वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४९ अंक १२ दिसम्बर २०११

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक १२

वार्षिक ६०/– एक प्रति ८/–

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २२,७५०

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य कालः पीबति तद्रसम् ।।१०।।

– किसी से जो कुछ लेना या किसी को कुछ देना बाकी हो, अथवा कोई कर्तव्य बाकी रह गया हो, तो उसे यथाशीघ्र सम्पन्न कर लेना चाहिये, अन्यथा काल उनका रस पी जाता है अर्थात् असमय करने से उनका समुचित फल नहीं होता।

आधि-व्याधि-परितापाद्-अद्य-श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ।।११।।

– जो शरीर आधि (मानसिक पीड़ा) तथा व्याधि (शारीरिक रोग) के तापों से पीड़ित है और आज या कल नष्ट हो जानेवाला है, उसके लिए भला कौन अधर्म का काम करेगा !

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।।१२।।

– आपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करें, धन से भी अधिक महत्त्व देकर स्त्री की रक्षा करें, किन्तु स्त्री और धन से भी उत्तम समझकर स्वयं अपनी रक्षा करें।

आपदो महतामेव महतामेव सम्पदः ।
क्षीयते वर्धते चन्द्रः कदाचिन्नैव तारकाः।।१३।।

– बड़े लोगों पर ही दुर्भाग्य तथा सौभाग्य का आगमन होता है, (छोटों पर नहीं); वैसे ही जैसे कि चन्द्रमा की ही ह्रास तथा वृद्धि होती है, तारों की नहीं।

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ।।१४।।

– विपत्ति में, खराब रास्ते चलते समय और कार्यकाल का समय बीतता देखकर, जो बिना पूछे ही हित की बात कहे, वही अपना शुभचिन्तक है।

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ।।१५।।

– आपत्ति में मित्र की, युद्ध में वीर की, ऋण में पवित्रता की निर्धनता में स्त्री की और दु:ख में अपनों की परीक्षा होती है।

आपात-रमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिव अन्नानां परिणामोऽतिदारुणः ।।१६।।

– 'प्रियजनों से मिलन भी अपथ्य अन्न के समान पहले तो अच्छा लगता है, किन्तु अन्त में दुखदायी हो जाता है।'

आमरणान्तः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ।।१७।।

– महात्माओं का प्रेम आजीवन रहता है; क्रोध क्षण भर के लिए होता है और उनका त्याग नि:स्वार्थ भाव से होता है।

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पंचैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ।।१८।।

– मनुष्य की आयु, कर्म, धन-सम्पदा, विद्या तथा मृत्यु – ये पाँच चीजें उसके गर्भ में रहते समय ही निश्चित हो जाती हैं।

आरम्भ-गुर्वी क्षयिनी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्ध-परार्ध-भिन्ना
छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम् ।।१९।।

– दुष्टों तथा सज्जनों की मित्रता में वैसा ही भेद होता है, जैसा कि दिन के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध की छायाओं में। दुष्टों की मित्रता पूर्वार्ध की छाया की भाँति शुरू में तो बड़ी रहती है, परन्तु क्रमश: घटती जाती है; दूसरी ओर सज्जनों की मित्रता उत्तरार्ध के छाया के समान पहले छोटी और फिर क्रमश: बढ़ती जाती है।

❖ (क्रमशः) ❖

सारदा-वन्दना

– १ –

(भैरवी या शिवरंजनी – रूपक)

चिन्मयी माँ सारदे, ले गोद निज सन्तान को,
लौट आया हूँ गया था, भोग-सुख सन्धान को ।।

ना मिला मुझको जगत् में, स्नेह का आभास भी,
अब समझ में आ गया है, सब तुम्हारे पास ही,
अलविदा हूँ कह चुका, भव के पतन-उत्थान को ।।
लौट आया हूँ गया था,
भोग-सुख सन्धान को ।। चिन्मयी माँ सारदे. ।।

मोह-ममता कामनाएँ, जा चुकीं चित से मेरे,
अब तो बस खेला करूँगा, नित्य ही सँग में तेरे,
दूर कर दिल की दुराशा, तृप्त कर मन-प्राण को ।।
लौट आया हूँ गया था,
भोग-सुख सन्धान को ।। चिन्मयी माँ सारदे. ।।

अब अकेला छोड़ना मत, गर्त में संसार के,
बाँध रखना बेड़ियों से, स्नेह और दुलार के,
चिर पिपासित है मेरा चित, पय-पयोधर पान को ।।
लौट आया हूँ गया था,
भोग-सुख सन्धान को ।। चिन्मयी माँ सारदे. ।।

– २ –

(अहीरभैरव या वैरागी – रूपक)

रामकृष्ण स्नेह-सुरसरि, सारदा आयी।
दिव्य ममता को प्रकट कर, विश्व में भायी ।।

राजती वैकुण्ठ में जो, विष्णु की अर्धांगिनी हो,
रूप लेकर मानवी वो, सारदा आयी ।।

जगत् का दुखभार हरने, धर्म का उद्धार करने,
तृषित जन के प्राण भरने, सारदा आयी ।।

देख सबकी दुर्दशा अति, द्रवित हो सन्तान के प्रति,
कर कृपा देने परम गति, सारदा आयी ।।

– 'विदेह'

वराहनगर मठ और भारत-भ्रमण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

हमारा यह एक अनुपम संघ है, और हममें से किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह अपने विश्वास को बलपूर्वक दूसरों पर थोपे। हममें से कुछ किसी तरह की मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते।... यदि कुछ लोग अपने गुरु की उपासना करें, तो इसमें क्या हानि है, विशेषत: जबकि वह गुरु ऐतिहासिक पैगम्बरों तक सभी की सम्मिलित पवित्रता से सौगुना अधिक पवित्र हो? यदि ईसा मसीह, कृष्ण और बुद्ध की पूजा करने में कोई हानि नहीं है, तो इस मनुष्य को पूजने में क्या हानि हो सकती है, जिसके विचार या कर्म को अपवित्रता कभी छू तक नहीं सकी, जिसकी अन्तर्दृष्टि-प्रसूत बुद्धि से अन्य पैगम्बरों, जिनमें से सभी एकांगी रहे हैं, की बुद्धि में आकाश-पाताल का अन्तर है?[१४]

पत्रों तथा वार्तालापों से झलकियाँ –

वराहनगर, २५ मार्च १८८७। बड़े दु:ख-कष्ट झेलने के बाद यह अवस्था हुई है।... मैं मानता हूँ कि बिना दु:ख-कष्ट झेले, कोई ईश्वर को आत्म-समर्पण नहीं करता।[१५]

९ अप्रैल १८८७। हम लोग जो साधन-भजन कर रहे हैं, यह उन्हीं की आज्ञा से। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि रामबाबू साधना की बात पर हम लोगों को ताना मारते हैं। वे कहते हैं, "जब (श्रीरामकृष्ण) के प्रत्यक्ष दर्शन कर लिए तो साधना कैसी?"... (परन्तु) हम लोगों को तो उन्होंने साधना करने की आज्ञा दी है।... कभी-कभी मुझे बड़ा अविश्वास होता है। बाबूराम के यहाँ मुझे जान पड़ा कि कहीं कुछ नहीं है। मानो ईश्वर-फीश्वर कहीं कुछ नहीं।[१६]

कलकत्ता, ७ मई १८८७। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। ... ईश्वर-दर्शन के लिए मैं अनशन कर डालूँगा – प्राण तक दे दूँगा।... जान पड़ता है, ईश्वर नहीं है। इतनी प्रार्थनाएँ मैंने कीं, उत्तर एक बार भी नहीं मिला।

सोने के अक्षरों में लिखे हुए न जाने कितने मन्त्र चमकते हुए मैंने देखे ! न जाने कितने काली रूप, और दूसरे दूसरे रूप देखे, फिर भी शान्ति नहीं मिल रही है ![१७]

ऋषीकेश में मुझे कई महापुरुषों के दर्शन हुए थे, जिनमें से एक की बात याद है – वे पागल जैसे दिख रहे थे। निर्वस्त्र रास्ते पर चले जा रहे थे। लड़के उनके पीछे दौड़ते हुए उन पर पत्थर फेंक रहे थे। उनके चेहरे तथा गर्दन से खून की धारा बह रही है, तो भी वे ठठाकर हँसते हुए चले जा रहे थे। मैं उनके पास गया, उनके घाव धोये और खून बहना रोकने के लिये कपड़े का टुकड़ा जलाकर घावों पर लगा दिया। इस दौरान वे हँस-हँसकर बताते रहे कि पत्थर फेंकने के इस खेल में बच्चों तथा उन्हें भी कितना मजा आ रहा था। वे बोले, "परम पिता ऐसे ही खेलते हैं !"

कुछ सन्त लोगों की भीड़ से छुटकारा पाने के लिये छिपकर रहते हैं। वे संसारी लोगों का सम्पर्क पसन्द नहीं करते। एक सन्त ने अपनी गुफा के चारों ओर नर-कंकाल बिखेर रखे थे और ऐसा भ्रम फैला रखा था कि वे मुर्दों का भक्षण करते हैं। एक अन्य किसी को देखते ही पत्थर फेंकने लगते। अन्य लोग भी ऐसा ही कुछ करते थे। ...

इन सन्तों में से कभी-कभी किसी को अचानक ही आत्म-बोध हो जाता है। जैसे कि एक लड़का अभेदानन्द के पास उपनिषद् पढ़ने आया करता था। एक दिन उसने पूछा, "महाराज, क्या यह सब सचमुच ही सच है?" अभेदानन्द ने कहा, "जरूर ! भले ही इनकी अनुभूति करना कठिन हो, परन्तु यह सब निश्चित रूप से सत्य है।" अगले ही दिन उस बालक ने एक मौनी दिगम्बर संन्यासी के रूप में केदारनाथ की ओर प्रस्थान किया ![१८]

बराहनगर, १९ नवम्बर, १८८८। वास्तव में इस मठ में संस्कृत धर्मग्रन्थों का खूब अध्ययन हो रहा है। वेदों के लिए तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि उनका अध्ययन बंगाल में बिल्कुल छूट गया है। इस मठ में अनेक लोग

संस्कृत जानते हैं और उनकी इच्छा है कि वे वेदों के संहिता आदि भागों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें। उनकी राय है कि जो काम किया जाय, उसे पूरी तौर से किया जाय। मेरा विश्वास है कि पाणिनि व्याकरण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किये बिना वेदों की भाषा में पारंगत होना असम्भव है और एकमात्र पाणिनि व्याकरण ही इस कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिये इसकी एक प्रति की आवश्यकता हुई है।... इस मठ में अध्यवसायी, योग्य और कुशाग्र बुद्धिवाले मनुष्यों की कमी नहीं है। मुझे आशा है कि गुरुकृपा से वे अल्प काल में पाणिनीय पद्धति में पारंगत होकर बंगाल में वेदों का पुनरुद्धार करने में सफल होंगे।[१९]

वराहनगर, ४ फरवरी, १८८९ : आपका पत्र मिला, जिसमें आपने मुझे वाराणसी के स्वर्गोपम नगर में निमंत्रित किया है। मैं इसे श्री विश्वेश्वर का आदेश मानकर स्वीकार कर रहा हूँ।... जो वाराणसी और विश्वनाथ के दर्शन से द्रवित नहीं होता, वह पाषाण-हृदय है !... जितना शीघ्र हो सकेगा, मैं वहाँ पहुँचूँगा। यह सब अन्ततोगत्वा विश्वेश्वर की इच्छा पर निर्भर है।[२०]

आँटपुर, ७ फरवरी, १८८९ : जब कभी मैं किसी व्यक्ति को उस उपदेशों के बीच पूर्ण रूप से निमग्न पाता हूँ, जो भविष्य में संसार में शान्ति की वर्षा करनेवाली है, तो मेरा हृदय आनन्द से उछलने लगता है।[२१]

बागबाजार, २१ मार्च, १८८९ : इस समय मैं बहुत बीमार हूँ। कभी-कभी बुखार हो जाता है, लेकिन प्लीहा या किसी अन्य अंग में कोई गड़बड़ी नहीं है। मैं होम्योपैथिक चिकित्सा करा रहा हूँ। वाराणसी जाने का विचार मैंने अब पूर्णतया त्याग दिया है। शारीरिक अवस्था के अनुसार अब ईश्वर जो चाहेगा, वह बाद में होगा।[२२]

बागबाजार, ४ जुलाई, १८८९ । प्रभु की इच्छा से मेरे गत छह-सात वर्ष निरन्तर विभिन्न विघ्न-बाधाओं से लड़ते हुए बीते। मुझे आदर्श शास्त्र प्राप्त हुआ है; मैंने एक आदर्श महापुरुष के दर्शन किये हैं, तो भी किसी वस्तु का अन्त तक निर्वाह मैं नहीं कर पाता, यही मेरे लिए बड़े कष्ट की बात है।

और विशेषत: कलकत्ते के आसपास रहकर मुझे सफलता पाने की कोई आशा नहीं। कलकत्ते में मेरी माँ और दो भाई रहते हैं। मैं सबसे बड़ा हूँ। दूसरा भाई एफ. ए. परीक्षा की तैयारी कर रहा है और तीसरा अभी छोटा है। ये लोग पहले काफी सम्पन्न थे, पर मेरे पिता की मृत्यु के बाद उनका जीवन कष्टमय हो गया है। कभी-कभी तो उन्हें भूखे रहना पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें असहाय पाकर कुछ सम्बन्धियों ने उन्हें पैतृक घर से भी निकाल दिया है। कुछ भाग तो हाईकोर्ट में मुकदमा लड़कर प्राप्त कर लिया गया है, परन्तु वे मुकदमेबाजी के कारण निर्धन हो गये हैं।

कलकत्ते के पास रहने से मुझे अपनी आँखों से उनकी दुरवस्था देखनी पड़ती है। उस समय मेरे मन में रजोगुण जाग्रत हो उठता है और मेरा अहंभाव कभी-कभी उस भावना में परिणत हो जाता है, जिसके कारण कार्यक्षेत्र में कूद पड़ने की प्रेरणा होती है। ऐसे क्षणों में मैं अपने मन में एक भयंकर अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करता हूँ। यही कारण है कि मैंने लिखा था कि मेरे मन की स्थिति भीषण है। अब उनका मुकदमा समाप्त हो चुका है।[२३]

वराहनगर, १७ अगस्त, १८८९ : जाति-पाँति के मामले में किसी भी वर्ग के प्रति मैं कोई पक्षपात नहीं रखता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह एक सामाजिक नियम है और गुण तथा कर्म के भेद पर आधारित है। यदि कोई नैष्कर्म्य तथा निर्गुणत्व को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपने मन में किसी प्रकार का जाति-भेद रखना हानिकर है। इन मामलों में गुरु के प्रसाद से मेरे कुछ निश्चित विचार हैं।[२४]

बागबाजार, २ सितम्बर, १८८९ : आपने मुझे जो यह उपदेश दिया है कि मैं तर्क और विवाद करना छोड़ दूँ, यह सचमुच बहुत ठीक है। वास्तव में वैयक्तिक जीवन का यही लक्ष्य है – 'जिसको आत्म-दर्शन होता है, उसकी हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं और कर्मों का नाश हो जाता है।' पर जैसा गुरुदेव कहा करते थे कि जब घड़े को पानी में डुबाकर भरा जाता है, तब उससे भक्-भक् की ध्वनि ही होती है। पर भर जाने के बाद उसमें से कोई ध्वनि नहीं होती, मेरी दशा ठीक वैसी ही है।[२५]

वैद्यनाथ, २४ दिसम्बर, १८८९ – मैं दो-चार दिनों से यहाँ कलकत्ता-निवासी एक सज्जन के मकान पर हूँ, किन्तु वाराणसी के लिए चित्त अत्यन्त व्याकुल है। वहाँ कुछ दिन रहने की अभिलाषा है एवं देखना है कि मुझ जैसे मन्दभाग्य व्यक्ति के लिए श्री विश्वनाथ तथा श्री अन्नपूर्णा क्या करती हैं। अबकी बार मैंने प्रतिज्ञा की है कि **शरीरं वा पातयामि, मन्त्रं वा साधयामि** (मंत्र का साधन अथवा शरीर का नाश)। काशीनाथ मेरे सहायक हों।[२६]

इलाहाबाद, ३० दिसम्बर १८८९ – मैंने आपको लिखा था कि दो-एक दिनों में ही मैं वाराणसी पहुँच रहा हूँ, किन्तु विधि के विधान को कौन बदल सकता है? योगेन्द्र नाम के मेरे एक गुरुभाई को चित्रकूट, ओंकारनाथ आदि स्थानों का दर्शन कर यहाँ (इलाहाबाद) लौटने पर चेचक हो गया है – यह समाचार पाकर उसकी सेवा-सुश्रूषा हेतु मुझे यहाँ आना पड़ा है। मेरे गुरुभाई अब पूर्णतया स्वस्थ हो चुके हैं। यहाँ के कुछ बंगाली सज्जन अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा अनुरागी हैं, वे अत्यन्त प्रेमपूर्वक मेरा आतिथ्य-सत्कार कर रहे हैं।...

मैं प्रयास कर रहा हूँ कि इनके आग्रह को शान्त कर दो-चार दिनों में ही काशीपुरी-अधीश्वर श्रीविश्वनाथ के पवित्र क्षेत्र में पहुँच सकूँ।... देखें, काशीनाथ की क्या इच्छा है ![२७]

गाजीपुर, ३० जनवरी १८९० – मैं इस समय गाजीपुर में सतीश बाबू के यहाँ ठहरा हूँ। मुझे जिन स्थानों को देखने का मौका मिला, उनमें यह स्थान स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। वैद्यनाथ का जल बड़ा खराब है, हजम नहीं होता। इलाहाबाद में बड़ी घनी बस्ती है – वाराणसी में इतना मलेरिया है कि जब तक रहा, निरन्तर ज्वर बना रहा। गाजीपुर में, खासकर जहाँ मैं रहता हूँ, वहाँ की जलवायु स्वास्थ्य के लिए बड़ी लाभदायक है। पवहारी बाबा का निवास-स्थान देख आया हूँ। चारों तरफ ऊँची दीवारें हैं, देखने में साहबों के बँगले जैसा है, अन्दर बगीचा है, बड़े-बड़े कमरे तथा चिमनी आदि हैं। वे किसी को भीतर नहीं आने देते, जब कभी इच्छा होती है, तब स्वयं ही दरवाजे पर आकर भीतर से ही बातचीत करते हैं। एक दिन वहाँ जाकर बैठा-बैठा सर्दी खाकर लौटा था। रविवार को वाराणसी जाना है। इस बीच में यदि उनसे भेंट हुई, तो ठीक, नहीं तो न सही।[२८]

गाजीपुर, ४ फरवरी १८९० – बड़े भाग्य से बाबाजी का दर्शन हुआ। वास्तव में वे महापुरुष हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस नास्तिकता के युग में भक्ति एवं योग की अद्भुत क्षमता के वे अलौकिक प्रतीक हैं। मैं उनकी शरण में गया और उन्होंने मुझे आश्वासन दिया, जो हर एक के भाग्य में नहीं। बाबाजी की इच्छा है कि मैं कुछ दिन यहाँ ठहरूँ, वे मेरा कल्याण करेंगे। अतएव इन महापुरुष की आज्ञानुसार मैं कुछ दिन और यहाँ ठहरूँगा। ... ऐसे महापुरुषों का साक्षात्कार किये बिना शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास नहीं होता।[२९]

गाजीपुर, ७ फरवरी १८९० – बाबाजी आचारी वैष्णव प्रतीत होते हैं; उन्हें योग, भक्ति तथा विनय की प्रतिमा कहना चाहिए। उनकी कुटी के चारों ओर दीवारें हैं। उनमें द्वार बहुत कम हैं। परकोटे के भीतर एक बड़ी गुफा है, जहाँ वे समाधिस्थ पड़े रहते हैं। गुफा से बाहर आने पर ही वे दूसरों से बातचीत करते हैं। किसी को यह मालूम नहीं कि वे क्या खाते-पीते हैं। इसीलिए लोग उन्हें पवहारी (केवल वायु का आहार करनेवाले) बाबा कहते हैं। एक बार जब वे पाँच साल तक गुफा से बाहर नहीं निकले, तो लोगों ने समझा कि उन्होंने देह त्याग दिया है। किन्तु वे फिर उठ आये। पर इस बार वे लोगों के सामने निकलते नहीं और बातचीत भी द्वार के भीतर से ही करते हैं। इतनी मीठी वाणी मैंने कहीं नहीं सुनी, वे प्रश्नों का सीधा उत्तर नहीं देते, बल्कि कहते हैं, "दास क्या जाने।" पर बात करते करते मानो उनके मुख से अग्नि के समान तेजस्वी वाणी निकलती है। मेरे बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा, "कुछ दिन यहाँ ठहरकर मुझे कृतार्थ कीजिए।" परन्तु वे इस तरह कभी नहीं कहते। इसलिए मैंने यह समझा है कि वे मुझे आश्वासन देना चाहते हैं और जब कभी मैं हठ करता हूँ, तो वे मुझे ठहरने के लिए कहते हैं। आशा में अटका पड़ा हूँ। वे निःसन्देह बड़े विद्वान् हैं, पर कुछ प्रकट नहीं होता। शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड करते हैं। पूर्णिमा से संक्रान्ति तक होम होता रहता है। अतः यह निश्चय है कि इस अवधि में वे गुफा में प्रवेश नहीं करेंगे।[३०]

श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद मैंने कुछ दिन गाजीपुर में पवहारी बाबा का संग किया था। उस समय मैं पवहारी बाबा के आश्रम के पास के एक बगीचे में रहता था। लोग उसे भूत का बगीचा कहा करते थे, परन्तु मुझे भय नहीं लगता था। तुम जानते ही हो कि मैं ब्रह्मदैत्य, भूत आदि से नहीं डरता। उस बगीचे में नीबू के अनेक पेड़ थे ओर वे फलते भी खूब थे। मुझे उस समय पेट की सख्त बीमारी थी और इस पर वहाँ भिक्षा में भी रोटी के सिवा अन्य कुछ नहीं मिलता था, इसलिए हाजमे के लिए खूब नीबू का रस पीता था। पवहारी बाबा के पास आना-जाना बहुत ही अच्छा लगता था। वे भी मुझे बड़ा स्नेह करने लगे। एक दिन मन में आया, श्रीरामकृष्ण के पास इतने दिन रहकर भी मैंने इस रुग्ण शरीर को दृढ़ बनाने का कोई उपाय तो नहीं पाया। सुना है, पवहारी बाबा हठयोग जानते हैं। उनसे हठयोग की क्रिया सीखकर शरीर को दृढ़ बनाने के लिए अब कुछ दिन साधना करूँगा। तुम जानते हो कि बड़ा हठी हूँ – जो मन में आयेगा, उसे करूँगा ही। जिस दिन मैंने पवहारी बाबा से दीक्षा लेने का इरादा किया, उसकी पहली रात एक खटिया पर लेटकर पड़ा-पड़ा कुछ सोच रहा था कि देखता हूँ – श्रीरामकृष्ण मेरी दाहिनी ओर खड़े होकर एक दृष्टि से मेरी और टकटकी लगाये खड़े हैं; मानो वे विशेष दुखी हो रहे हैं। जब मैंने उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दिया है, तो फिर किसी दूसरे को गुरु बनाऊँ? – यह बात मन में आते ही मैं लज्जित होकर उनकी ओर ताकता रह गया। इसी प्रकार शायद दो-तीन घण्टे बीत गये। परन्तु उस समय मेरे मुख से कोई भी बात नहीं निकली। उसके बाद वे सहसा अन्तर्धान हो गये। श्रीरामकृष्ण को देखकर न जाने कैसा हो गया! इसीलिए उस दिन दीक्षा लेने का संकल्प स्थगित रखना पड़ा। दो-एक दिन बाद फिर पवहारी बाबा से मंत्र लेने का संकल्प उठा। उस दिन भी रात को – ठीक पहले दिन की ही तरह श्रीरामकृष्ण फिर प्रकट हुए। इस प्रकार लगातार इक्कीस दिनों तक उनका दर्शन पाने के बाद दीक्षा लेने का संकल्प एकदम त्याग दिया। मन में सोचा – जब भी मंत्र लेने का विचार करता हूँ, तभी इस प्रकार दर्शन होता है, तब मंत्र लेने पर तो इष्ट के बदले अनिष्ट ही हो जायगा।[३१]

एक बार मुझे एक योगी के बारे में मालूम हुआ, जो

काफी वयस्क थे ओर जो अकेले एक गुफा में रहते थे। उनके पास भोजन पकाने के लिए एक या दो बरतन मात्र थे। वे बहुत कम खाते थे, एक-आध वस्त्र पहनते थे और अपना अधिकांश समय ध्यान लगाने में ही व्यतीत करते थे।

उनकी दृष्टि में सभी प्राणी समान थे। वे अहिंसा में सिद्ध हो गये थे। वे प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक प्राणी में आत्मा या जगदीश्वर का दर्शन करते थे। उनके लिए प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी 'मेरे प्रभु' थे। किसी व्यक्ति या पशु को वे किसी दूसरे नाम से सम्बोधित नहीं करते थे। एक दिन एक चोर उनके यहाँ पहुँचा और उसने उनका एक तसला चुरा लिया। उन्होंने चोर को देखा और उसका पीछा किया। पीछा दूर तक चला। चोर को थककर रुक जाना पड़ा। योगी दौड़कर उसके पाँवों पर पड़ गये। उन्होंने कहा, ''मेरे प्रभु! मेरे यहाँ आकर तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। मुझे इतना सम्मान और प्रदान कर कि दूसरा तसला भी स्वीकार कर। यह भी तेरा है।'' अब इन वृद्ध महापुरुष का देहान्त हो चुका है। उनमें संसार की प्रत्येक वस्तु के लिए प्रेम भरा था। वे एक चींटी के लिए भी अपना प्राणोत्सर्ग कर देते। वन्य पशु सहज बुद्धि से इन वृद्ध व्यक्ति को अपना मित्र समझते थे। सर्प तथा भयानक पशु उनकी गुफा में जाते और उनके साथ सो जाते। वे सब उनसे प्रेम करते थे और उनकी उपस्थिति में कभी लड़ते नहीं थे।[३२]

अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरुष थे। यह महान् सत्य स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूपायित हुआ था। इस एक सत्य से मैं सर्वदा बड़े पाठ सीखता आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है – साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना कि साध्य की ओर।[३३]

उनकी एक विशेषता यह थी कि वे जिस समय जो काम हाथ में लेते थे, वह चाहे कितना ही तुच्छ क्यों न हो, उसमें वे पूर्णतया तल्लीन हो जाते थे। जिस प्रकार वे श्री रघुनाथजी की पूजा पूरे अन्त:करण से करते थे, उसी प्रकार की एकाग्रता तथा लगन के साथ वे एक ताँबे का क्षुद्र बरतन भी माँजते थे। उन्होंने हमें कर्म-रहस्य के सम्बन्ध में यह शिक्षा दी थी कि 'जस साधन तस सिद्धि', अर्थात् 'ध्येय-प्राप्ति के साधनों से वैसा ही प्रेम रखना चाहिए मानो वे स्वयं ही ध्येय हों।' और वे स्वयं इस महान् सत्य के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

उनकी विनम्रता उस तरह की नहीं थी, जिसका अर्थ होता है कष्ट, पीड़ा तथा अपनी अवमानना। एक समय उन्होंने हमारे सम्मुख निम्नलिखित भाव की बड़ी सुन्दर व्याख्या की थी, ''हे राजन्, ईश्वर तो उन अकिंचनों का धन है, जिन्होंने सब वस्तुओं का त्याग कर दिया है – यहाँ तक कि अपनी आत्मा के विषय में भी इस भावना का कि 'यह मेरी है' – पूर्ण त्याग कर दिया है।'' और इसी अनुभूति द्वारा उनमें सहज रूप से विनय भाव उत्पन्न हुआ था।

वे प्रत्यक्ष रूप से कभी उपदेश नहीं देते थे, क्योंकि ऐसा करना तो मानो आचार्यपद ग्रहण करना तथा स्वयं को मानो दूसरों की अपेक्षा उच्चतर आसन पर आरूढ़ कर लेने के सदृश हो जाता। परन्तु एक बार जब उनके हृदय का स्रोत खुल जाता था, तब उसमें से अनन्त ज्ञान की धारा निकल पड़ती थी। परन्तु इसके बावजूद उनके उत्तर सीधे न होकर संकेतात्मक ही हुआ करते थे।... वर्तमान लेखक इन परलोकगत सन्त का परम ऋणी है। इस लेखक ने जिन श्रेष्ठतम आचार्यों से प्रेम किया है तथा जिनकी सेवा की है, उनमें से वे एक थे। ये पंक्तियाँ चाहे जैसी भी अयोग्य हों, इन्हें मैं उनकी पवित्र स्मृति में अर्पित करता हूँ।[३४]

गाजीपुर, १४ फरवरी १८९०। यदि माताजी (श्री सारदा देवी) आ गयी हों, तो उन्हें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम कहिए और उनसे मेरे लिये यह आशीर्वाद माँगिये – या तो मैं अटल अध्यवसायी बना रहूँ या यदि मेरे शरीर द्वारा यह सम्भव न हो, तो इसका शीघ्र अवसान हो जाय।[३५]

गाजीपुर, १९ फरवरी १८९०। मेरे इस सब मायाजाल पर आपको हँसी आती होगी और बात भी सचमुच ऐसी ही है। एक बन्धन लोहे की जंजीरों का होता है, दूसरा सोने की जंजीरों का। दूसरे बन्धन से बहुत कुछ कल्याण होता है और इष्ट-सिद्धि के बाद वह अपने आप खुल जाता है। मेरे गुरुदेव की सन्तानें मेरी सेवा के पात्र हैं। और यहीं पर मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे लिए कुछ कर्तव्य बाकी है।[३६]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३२३-२४; **१५.** श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड २, पृ. १२४३; **१६.** वही, पृ. १२४९-५०; **१७.** वही, पृ. १२५१; **१८.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४१७; **१९.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. २३२-३३; **२०.** वही, खण्ड १, पृ. ३३३; **२१.** वही, खण्ड १, पृ. ३३४; **२२.** वही, खण्ड १, पृ. ३३५; **२३.** वही, खण्ड १, पृ. ३३७; **२४.** वही, खण्ड १, पृ. ३४१; **२५.** वही, खण्ड १, पृ. ३४४; **२६.** वही, खण्ड १, पृ. ३४७-८; **२७.** वही, खण्ड १, पृ. ३४८; **२८.** वही, खण्ड १, पृ. ३५२-३; **२९.** वही, खण्ड १, पृ. ३५४; **३०.** वही, खण्ड १, पृ. ३५५; **३१.** वही, खण्ड ६, पृ. २११-२; **३२.** वही, खण्ड ४, पृ. १८२; **३३.** वही, खण्ड ९, पृ. १७५; **३४.** वही, खण्ड ९, पृ. २७०-१; **३५.** वही, खण्ड १, पृ. ३५८; **३६.** वही, खण्ड १, पृ. ३५९

साधना, शरणागति और कृपा (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

हनुमानजी जब लंका-दहन के बाद लौटकर आए, तो प्रभु ने उनसे कहा – "लंका में तो तुमने बड़े महान् कार्य किये।" इस पर हनुमानजी प्रभु के चरणों को पकड़कर बोले – लंका तो आपने मुझे बहुत बड़ी शिक्षा लेने के लिए भेजा था। – देने के लिये या लेने के लिये? हनुमानजी ने कहा – महाराज, मैं क्या शिक्षा देता? मैं तो लंका से शिक्षा लेकर आया हूँ। – शिक्षा लेकर आए हो? बोले – प्रभो, जब मैंने इतने बड़े समुद्र को पार कर लिया, तो सोचा कि सीताजी को भी ढूँढ़ लूँगा, पर ढूँढ़ नहीं सका। तो इसके द्वारा आपने स्पष्ट बता दिया कि परम पुरुषार्थ करके भी, बिना कृपा के कोई भक्ति को नहीं पा सकता। भक्ति तो कृपा के द्वारा ही पायी जाती है और उसके द्वारा मैंने पा लिया तो स्पष्ट ही है कि मेरे पुरुषार्थ का कोई अर्थ नहीं।

प्रभो, इतना ही नहीं, दूसरा पाठ मुझे तब मिला, जब अशोक-वाटिका में रावण के आने पर सीताजी व्याकुल हो गयीं और उसके वाक्यों को सुनकर शरीर त्याग करने तक के लिए प्रस्तुत हो गई। उनकी व्याकुलता को देखकर त्रिजटा नाम की राक्षसी बोली कि आज रात मैंने सपने में देखा कि एक बन्दर लंका में आया हुआ है, तो प्रभो, सुनकर मैं लज्जा के मारे गड़ गया। मैं सोचता था कि भला लंका में सन्त कहाँ है? पर वहाँ तो मुझे ऐसे-ऐसे सन्त मिले, जैसे संसार में अन्यत्र नहीं मिले। उसने स्वप्न में भी सत्य देख लिया और इतना ही नहीं, आश्चर्य की बात यह है कि उस राक्षसी ने जब कहा कि वह आया हुआ बन्दर लंका को जलायेगा, तब तो मैं चकित हो गया। परन्तु बाद में जब वह बात सत्य सिद्ध हुई, तब मैंने कहा कि त्रिजटा इतनी महान् भक्त है कि जो बात आपने मुझसे नहीं कही, वह त्रिजटा से कह दी। मुझसे तो आपने बिल्कुल नहीं कहा था कि लंका जलाना है, पर आपने त्रिजटा से सन्देश भिजवाया। वह आपका ही तो सन्देश था। त्रिजटा ने कहा –

सपनें बानर लंका जारी।
जातुधान सेना सब मारी।। ५/११/३

तो प्रभु, मेरा यह भ्रम दूर हो गया कि किसी देश विशेष में सन्त होते हैं। किसी जाति में ही सन्त होते हैं। हमें लगने लगा कि आप सर्वव्यापी हैं, तो आपके सन्त भी सर्वत्र हैं। कितना बड़ा चमत्कार! और त्रिजटा कोई साधारण सन्त नहीं थी – भगवान राम के चरणों में उसकी महानतम रति है –

त्रिजटा नाम राच्छसी एका।
राम चरन रति निपुन बिबेका।। ५/११/१

वह रति ऐसी है, जिसकी याचना करते हुए भरतजी कहते हैं – मुझे न धन की इच्छा है, न धर्म की, न काम की और न मोक्ष की। मैं तो बस यही वरदान माँगता हूँ कि जन्म-जन्म में मेरा श्रीराम के चरणों में प्रेम बना रहे –

अरथ न धरम न काम रुचि
गति न चहउँ निरबान।
जनम-जनम रति राम पद
यह बरदानु न आन।। २/२०४

त्रिजटा लंका में रहकर भी उस रति की स्थिति में पहुँची हुई है। उसकी कितनी सर्वव्यापिनी दृष्टि है! रावण की मृत्यु क्यों नहीं हो रही है, इसका भी रहस्य बतानेवाली त्रिजटा ही है। हनुमानजी बोले – प्रभो, मुझे तो पग-पग ऐसा लगने लगा कि **लंका में जितने बड़े-बड़े सन्त हैं, उतने अन्यत्र नहीं हैं**। हम लोगों में भी कोई दिखाई नहीं दे रहा है।

प्रभो, इससे भी बढ़कर तीसरा पाठ मुझे तब मिला कि जब रावण वार्तालाप करते हुए सीताजी का सिर काटने के लिये तलवार निकालकर उनकी ओर दौड़ा। उस समय तो मेरे सामने एकमात्र यही उपाय था कि मैं वृक्ष से कूदकर रावण की तलवार छीनकर उसका सिर काट देता। लेकिन मेरे कूदने से पहले ही जब रावण की पत्नी मन्दोदरी ने रावण का हाथ पकड़ लिया, तो मेरे आँखों में आँसू आ गया कि प्रभो, आप तो शत्रु की पत्नी से भी काम ले लेते हैं। उस स्थिति में तो मन्दोदरी को और भी प्रसन्न होना चाहिए था कि रावण सीताजी को पटरानी बनाना चाहता है और वही यदि सीताजी का सिर काट दे, तो हमारा काँटा दूर हो जाय। पर मन्दोदरी ने जब रोका और रावण मान गया, तो मैं समझ गया कि मैं व्यर्थ ही भ्रम पाले बैठा था कि मैं आपका काम करने लंका आया हुआ हूँ। पहला काम तो विभीषणजी ने कर दिया, दूसरा मन्दोदरी ने किया, तीसरा त्रिजटा ने किया

और अन्त में तो प्रभो, पराकाष्ठा हो गई – त्रिजटा ने कहा था कि बन्दर लंका जलायेगा। अब न तो मेरे पास आपकी आज्ञा थी और न ऐसी कोई योजना थी, पर रावण ने जब विभीषण की बात मानकर मृत्युदण्ड रोक दिया और उसके बाद कहा कि मृत्यु तो नहीं, पर दण्ड तो अवश्य दिया जायगा। इसके पूँछ में कपड़ा लपेट कर घी-तेल डालकर आग लगा दिया जाय; तो प्रभो, यह सुनकर तो मैं बिल्कुल भाव में ही डूब गया, क्योंकि पहले मैंने सोचा था कि आप रावण की पत्नी से काम करा लेते हैं। जब मेरे मृत्युदण्ड का विरोध विभीषण ने किया, तो मैंने सोचा कि आपने रावण के छोटे भाई से भी काम ले लिया। किन्तु जब स्वयं रावण ने कहा कि पूँछ में कपड़ा लपेटकर घी-तेल डालकर जला दो, तो मैंने सोचा, वाह प्रभो, आप तो रावण से भी अपना काम करा लेते हैं। अब मैं लंका जलाने के लिये घी कहाँ से लाता, तेल कहाँ से लाता, कपड़ा कहाँ से लाता? लेकिन सारा प्रबन्ध आपने रावण से ही करा दिया। (प्रत्येक कार्य में प्रभु की महिमा का ही दर्शन हो रहा है।) जो कुछ हुआ, वह क्या मैंने किया?

प्रभु बोले – तो तुमने लंका जला दिया है? हनुमानजी बोले – प्रभो, केवल लंका थोड़े ही जली है, अन्य भी अनेक काम हुए हैं। – अच्छा, और क्या-क्या काम कर डाले? बोले – समुद्र लंघन किया, लंका को जलाया, राक्षसों को मारा और बगीचे को उजाड़ डाला। – अरे, तुमने तो चार-चार काम कर डाले? बोले – नहीं, मैंने कुछ भी नहीं किया। – तो किसने किया? – सब कुछ आपकी कृपा से हुआ –

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।। ५/३३/८-९

अब एक ओर हनुमानजी की अनुभूतियाँ हैं, जो समस्त साधना और सामर्थ्य के बाद अपने आप में असमर्थता का बोध कराती हैं, भगवान और उनकी महिमा का स्मरण कराती हैं; और दूसरी ओर विभीषण की अनुभूति है, जो बार-बार भ्रमित होते हैं, बार-बार थोड़ा रुकने की चेष्टा करते हैं, पर भगवान को तो अभीष्ट है – यदि सीधे आना चाहे, तो सीधे आ जाए; ठीक है, पर सीधे नहीं आओगे, तो प्रहार झेलो। पिट कर आओ। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में कहा – महाराज, इन बुराइयों का मुझे बड़ा दुख है। भगवान बोले – तो इन बुराइयों के बारे में तुम मुझे क्यों बता रहे हो? मुझे उनसे क्या लेना देना? बोले – नहीं महाराज, मुझे पता चल गया है कि चोर और पहरेदार, सब आपके ही हाथ हैं –

समाचार साथ के अनाथ-नाथ कासों कहौं,
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु।। २५०/३

यहाँ तात्पर्य इस सृष्टि की व्यवस्था से है। एक तो कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि है, पर एक दृष्टि ऐसी आ जाती है कि जहाँ पर भगवान को छोड़कर और कोई है ही नहीं। यदि बुराई नष्ट होगी, तो भगवान की कृपा से ही सम्भव है। इसी स्थिति का अनुभव हनुमानजी को होता है। दूसरी ओर विभीषण के जीवन में बिलम्ब होता है। बाद में जब उनके लिये रावण के साथ रहना असह्य हो जाता है, तब कहीं जाकर वे शरणागति की दिशा में प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। तब उनके मुख से यह शब्द निकलता है – प्रभो, मैं रावण का तो भाई हूँ और निशाचर वंश में मेरा जन्म हुआ है, अत: अन्धकार का प्रेमी हूँ और फिर पापी भी इतना हूँ कि जैसे उल्लू को अन्धकार प्रिय लगता है, वैसे ही मुझे पाप प्रिय लगता है –

नाथ दसानन कर मैं भ्राता।
निसिचर बंस जनम सुरत्राता।।
सहज पापप्रिय तामस देहा।
जथा उलूकहि तम पर नेहा।। ५/४५/७-८

– यही तुम्हारा परिचय है, तो यहाँ कैसे आ गये? बोले – मैं कानों से आपकी कीर्ति सुनकर आया हूँ कि आप भव-भय का नाश करने वाले हैं। हे दुख दूर करनेवाले और शरणागत को सुख देनेवाले रघुवीर, मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए –

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।। ५/४५

शरणागति बड़ी मधुर है, पर शरणागत बनना बड़ा कठिन है। शरणागति हो गई, तो सारी समस्याओं का समाधान हो गया, परन्तु शरणागति में आने की मन:स्थिति कितने समय में होगी, यह नहीं कहा जा सकता। कम समय में भी हो सकती है, बड़े लम्बे समय में भी हो सकती है, पर महत्त्वपूर्ण सूत्र एक ही है कि क्या हमारे जीवन में ईश्वर की आवश्यकता है? क्या अपने जीवन की बुराइयाँ हमें बुरी लग रही है, हममें उन्हें मिटाने की व्यग्रता है और हम यह अनुभव कर रहे हैं कि अब यह स्थिति नहीं सही जा रही है?

इसी का संकेत पृथ्वी के प्रसंग में है। भगवान राम के अवतार की भूमिका तब बनी, जब पृथ्वी व्याकुल हो गई – अब बोझ उठाया नहीं जाता, असह्य हो गया है, अब मैं रावण को क्षमा नहीं कर सकती। तब साधना होने लगी। साधना क्या है? वे मुनियों के पास गई और समाधान माँगा। मुनि मननशील हैं। पर उन्हें लगता है कि इन परिस्थितियों का समाधान हमारे पास नहीं है। रावण मुनियों को भी संत्रस्त करने की क्षमता रखता है। देवताओं ने कहा – रावण की समस्या का समाधान हमारे पास भी नही है, उससे तो हम भी पराजित है। यह एक क्रम है – मननशील मुनि, पुण्यमय देवता, मनन से भी समस्या का समाधान नहीं मिला, पुण्य से भी समाधान नहीं मिला और तब बुद्धि के देवता का आश्रय लिया। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं। बुद्धि भी असमर्थ

है। असमर्थता ही ईश्वर को पाने का सर्वोत्तम साधन है।

तो सूत्र यही है – जब सब कुछ करने के बाद – प्रयत्न करके, मनन करके, पुण्य करके विचार करके भी हम बुराई को दूर नहीं कर पाते हैं, तब लगता कि इसका समाधान तो एकमात्र ईश्वर है। इस पर एक नया शास्त्रार्थ छिड़ गया – अच्छा, तो ईश्वर हैं कहाँ? सबका अलग-अलग मत। किसी ने कहा – बैकुण्ठ में है, कोई बोला – क्षीर-सागर में हैं –

पुर बैकुंठ जान कह कोई ।
कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई ।। १/१८५/२

अब वही प्रश्न फिर कि क्या भगवान बद्रीनारायण में हैं? क्या भगवान केवल मस्जिद या मन्दिर में ही हैं? यो तो कबीर ने कह ही दिया – भगवान कहते हैं कि मुझे कहाँ ढूँढ़ रहे हो, मैं तो तुम्हारे पास हूँ। पर कबीर की भाषा दूसरी है और तुलसीदासजी की भाषा दूसरी है। उद्देश्य किसी का खण्डन-मण्डन करना नहीं है। उन्होंने वही बात कही, जिसका उन्हें अनुभव हुआ। यदि आप बिना तीर्थ गये, बिना किसी मन्दिर में गये, हृदय में भगवान का साक्षात्कार कर सकते हैं, तो ठीक है। आप क्यों बाध्य किए जायेंगे कि आपको तीर्थयात्रा करनी ही है। प्रसिद्ध वाक्य है – **मन चंगा, तो कठौती में गंगा**। यदि कोई यह वाक्य बोलकर कठौती में गंगा मानकर गंगा नहाने ही न जाए, तो यह ठीक नहीं होगा। इसका सही तत्त्व यह है कि आपको सचमुच कठौती में ही गंगाजी दिखाई देने लगें। परन्तु यदि कोई यह सोचकर कि जाना-आना पड़ेगा, अत: अपने आलस्य के समर्थन में 'कठौती में गंगा' कहकर बात बनाये, तो वह उसका बातें बनाना मात्र होगा। वह सत्य होनेवाला नहीं है।

पार्वतीजी ने भगवान शिव से कहा – जब कोई कहता है कि वे क्षीर-सागर में हैं और कोई कहता है बैकुण्ठ में हैं, तो एक-न-एक सही होगा और एक-न-एक गलत होगा। शंकरजी बोले – ऐसी बात नहीं है। कबीर के भगवान उनसे कहते हैं कि मैं न मन्दिर में हूँ, न मस्जिद में हूँ, न काबा में हूँ और न कैलाश में हूँ, परन्तु शंकरजी कहते हैं कि जो कहता है बैकुण्ठ में हैं, वह भी ठीक कह रहा है और जो कहता है कि क्षीर-सागर में हैं, वह भी ठीक कह रहा है। – कैसे ठीक कह रहा है? उन्होंने सूत्र दिया – भगवान सर्वत्र निवास करते हैं; जिसकी जैसी भक्ति है, उसके अनुसार वे प्रकट होते हैं –

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती ।
प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती ।। १/१८५/१

अब यह तो व्यक्ति पर निर्भर है कि उसे भगवान को कहाँ देखना उपयुक्त लगता है, कहाँ उनके सान्निध्य का अनुभव होता है, दूसरे के कहने से क्या होगा। कोई व्यक्ति इसलिए तीर्थयात्रा न करे कि कबीर ने कह दिया है कि उससे ईश्वर थोड़े ही मिलता है। या फिर किसी सन्त ने कह दिया कि मूर्ति की पूजा करने से ईश्वर थोड़े ही मिलता है। वे भी अपने स्थान पर ठीक ही कह रहे हैं। उसके खण्डन की आवश्यकता नहीं है। तो तात्पर्य यह है कि ईश्वर आपको सर्वत्र मिल सकता है – तीर्थ में भी मिल सकता है, मन्दिर में भी मिल सकता है। अब यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम उन्हें कहाँ देखना चाहते हैं। आज के भौतिक विज्ञान का दृष्टान्त लें, तो जैसे बिजली का तार आपके घर में कमरे में सर्वत्र लगा हुआ है, पर यह निर्णय तो आपको करना पड़ता है न कि कहाँ बल्ब लगाना है, कहाँ पंखा लगाना है, कहाँ प्रकाश की आवश्यकता है और कहाँ हवा की? कोई कहे कि यह तो व्यर्थ का प्रयास है, बिजली का तार तो सर्वत्र लगा हुआ, जहाँ से चाहो, वहाँ से बिजली ले लो। बिजली तो है, पर प्रकाश को प्रगट करने के लिये हमको जो माध्यम जहाँ उपयोगी लगता है, उसको वहाँ लगाते हैं। इसी प्रकार धर्म-साधना के सन्दर्भ में अपनी बात दूसरों पर लादने की चेष्टा है, सम्भव है वह अच्छे भाव से किया जा रहा हो, परन्तु बहुत उपयोगी नहीं है। इस दृष्टि से कभी-कभी लोग कह देते हैं कि ये तो भ्रम में पड़े हुए हैं, हम इनका भ्रम दूर कर देंगे। तो वे बेचारे भ्रम तो दूर कर नहीं पाते, बल्कि एक नए भ्रम की सृष्टि कर देते हैं। एक व्यक्ति अनुभव कर रहा है कि तीर्थ जाकर मुझे आनन्द आता है, मन्दिर में दर्शन करके मुझे आनन्द आता है। यदि उससे कह दिया जाय कि मन्दिर जाना बेकार है। यदि वह इसे मान ले, तो वह बेचारा न तो मन्दिर जा सके और न तीर्थ –तो बाहर-भीतर, दोनो ओर से गया। इसलिए साधना की दृष्टि से हर व्यक्ति की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। कुछ लोग सीधे मार्ग से चलना पसन्द करते हैं, कोई पगडण्डियों से और कई लोग तो ऐसे हैं कि मार्ग जितना ही कठिन हो, उनको उतना ही अच्छा लगता है। बड़ी अटपटी बात लगती है। वह श्लोक आपने सुना होगा –

रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु-कुटिल-नाना-पथजुषाम् ।
नृणाम् एको गम्यस् त्वमसि पयसाम् अर्णव इव ।।

– जैसे सभी नदियाँ टेढ़े या सीधे रास्ते पकड़कर समुद्र तक पहुँचती हैं, वैसे ही रुचियों की भिन्नता के कारण लोग सरल या कठिन रास्ता भले ही चुन लें, पर सबका गन्तव्य एक है।

स्वामी विवेकानन्द जी ने सर्व-धर्म-सम्मेलन में जो प्रथम भाषण दिया था, उसमें उन्होंने लोगों को इस पंक्ति की व्याख्या सुनाई थी, क्योंकि उस सभा में अनेक धर्मों के लोग उपस्थित थे। तो साधारण प्रवृत्ति यह है कि एक धर्म का समर्थन करके दूसरे धर्म का खण्डन करें, दूसरे के मार्ग का विरोध करें। स्वामीजी का तात्पर्य था कि किसी को सड़क अच्छी लगती है, किसी को गली अच्छी लगती है – सब अपनी-अपनी रुचि के मार्ग पर चलें।

बड़ी मीठी बात आती है। शंकरजी गये राम जन्म में

सम्मिलित होने के लिए। शंकरजी कोई अज्ञानी थे क्या, जो रामजन्म के लिये अयोध्या जाते? लेकिन सुना कि श्रीराम का अवतार हो रहा है, तो पार्वतीजी से बोले – जो बात मैंने तुमसे छिपाई थी, वह आज मैं तुम्हें बता रहा हूँ। सतीजी के रहते ही दर्शन करने अयोध्या गये थे, पर उन्हें बिल्कुल नहीं बताया था। पार्वतीजी को कथा सुनाने लगे, तो बोले – आज मैं तुम्हें अपनी चोरी सुना रहा हूँ। यह नहीं कहा कि तब क्यों नहीं बताया। बता रहे हैं कि अब क्यों सुना रहा हूँ। बोलने की शैली बड़ी मृदुल है। उन्होंने कहा – पर्वतपुत्री, इसलिये सुना रहा हूँ कि तुम्हारी बुद्धि बड़ी दृढ़ है –

औरउ एक कहउँ निज चोरी ।
सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ।। १/१९६/३

सब कुछ कह दिया। तुम पूर्वजन्म में चतुर की बेटी थी। यदि तब मैं तुमसे कहता कि अयोध्या में ईश्वर का अवतार हुआ है, तो शास्त्रार्थ छिड़ जाता कि वह सर्वव्यापक एकदेशीय कैसे होगा, निराकार साकार कैसे होगा ! मैं समझ गया कि यदि हम इस विवाद में पड़ेंगे, तो उस रस का आनन्द ही खो बैठेंगे, इसलिये छिपा लिया। बोले – तब मैंने सोचा कि अकेले जाने से भी थोड़ा अधिक आनन्द तब आता है, जब उसी भाव का कोई और भी साथ हो जाये। तो भुशुण्डीजी के पास पहुँच गये। श्रीराम का जन्म हुआ। जो साक्षात् ज्ञान-स्वरूप शिव हैं, वे स्वयं इस यात्रा में सम्मिलित हैं। कागभुशुण्डि के पास गये और बोले – आओ, हम दोनों मनुष्य बन जाएँ और अयोध्या चलें। – तो महाराज, जब आप मनुष्य बनकर गये, तो इससे अच्छा होता कि आप स्त्री बन जाते, तो भीतर तक चले जाते। – नहीं, हम तो मनुष्य बने। – तो आप भीतर गये या नहीं? बोले – बिल्कुल नहीं।

अब यह आनन्द लेने की पद्धति है। इसमें आप यह मत पूछिये कि कौन-सी पद्धति ठीक है। उपासना का सर्वश्रेष्ठ सूत्र यही है कि आप अपनी उपासना में दृढ़ रहते हुए दूसरे की उपासना का खण्डन मत कीजिए। रामायण में गोस्वामीजी ने लिखा है – भगवान राम वन जा रहे थे, सब लोगों ने कहा, मुझे भी साथ ले लीजिए। भगवान राम ने रोका तो कुछ लोग नहीं माने – चले जा रहे हैं।

रामहि देखि एक अनुरागे ।
चितवत चले जाहिं सँग लागे ।। २/११४/७

कुछ लोग नहीं गये। गोस्वामीजी से पूछा गया – जो गये वे सच्चे प्रेमी थे या जो रह गये? सम्भव है उन्होंने शाब्दिक शिष्टाचार किया हो। तो बोले – जो रुक गये, वे नेत्र मूँदकर हृदय में उनका दर्शन करने लगे –

एक नयन मग छबि उर आनी ।
होहिं सिथिल तन मन बर बानी ।। २/११४/८

अब आप इस पर विवाद शुरू कर सकते हैं कि हृदय में देखना ठीक था या साथ में जाना ठीक था। परन्तु यह तो आनन्द लेने की अपनी-अपनी शैली है। आपको कोई मिठाई प्रिय लगी, तो उसके लिए आप शास्त्रार्थ करने लगें कि सबको यही खाना चाहिये, यही सर्वश्रेष्ठ है, अन्य मिठाइयों में भी क्या कोई स्वाद है ! यह कोई विवेक नहीं है। शंकरजी बोले – मैं अयोध्या गया और वहाँ जाकर मनुष्य बना –

काकभुसुंडि संग हम दोऊ ।
मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ।।
परमानंद प्रेम सुख फूले ।
बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।। १/१९६/४-५

स्त्री बनकर महल में जा सकते थे, पर नहीं बने। बाहर ही रहे और वे दर्शन राम का नहीं करते। किसको देखते हैं? – जो स्त्रियाँ भीतर से दर्शन करके आ रही हैं, उनकी आँखों में जो उल्लास है, उसको देख रहे हैं। यह देखने की एक नई पद्धति है। भगवान को नहीं, भगवान को भक्त की आँख में देखना। आनन्द लेने की पद्धति के अनेक रूप हो सकते हैं। आप चाहें तो चाँदी के बर्तन में पीयें, सोने के बर्तन में पीयें, मिट्टी के बर्तन में पीयें, चुल्लू में पीयें – जैसे जल पीने की अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही रस लेने की अनेक पद्धतियाँ हैं। शंकरजी आगे चलकर भवन में भी गये। वह आनन्द लेने की दूसरी पद्धति है, पर इस समय तो उन्होंने कहा कि जो स्त्रियाँ उस दर्शन का आनन्द लेकर भावविह्वल होकर बाहर आ रही हैं, बस उनके नेत्रों में देखकर ही मस्ती में झूम रहे हैं। यहाँ तत्त्व और भाव में थोड़ी भिन्नता है। तत्त्व वह है, जो एक रस है और भाव वह है, जो नित्य परिवर्तनशील है। इस नित्य-नूतन-भाव की रस-पद्धति ही अनोखी होती है। दो भक्त या दो वेदान्ती – विचार में बिल्कुल एक जैसे होंगे, पर व्यवहार में तो वे भी एक जैसे नहीं होंगे। ऐसा नहीं है कि हर वेदान्ती एक जैसा भोजन पसन्द करे, या एक ही तरह के स्थान में रहना पसन्द करे, या एक ही जैसा व्यवहार करे। पर उसका तत्त्वज्ञान तो एक ही होगा – ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव स्वरूपतः ब्रह्म है –

ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।

परन्तु भक्तों की बात ही निराली है। वे सब कुछ भाव की दृष्टि से देखते हैं। भगवान शिव से बढ़कर ज्ञानमय कौन होगा? परन्तु वे कई रूपों में उस दर्शन का आनन्द लेते हैं।

तो उपासना का सम्बन्ध – हृदय से, भावना से और चाह से है, इसीलिये जब देवताओं ने कहा कि भगवान क्षीरसागर में हैं, तो भगवान शिव बोले – बिल्कुल ठीक। देवताओं ने कहा कि बैकुण्ठ में हैं, तो कहा, वह भी ठीक है – सब ठीक है। सूत्र मानो यह है कि हम यह क्यों कहें कि भगवान वहाँ नहीं है? जब शंकरजी से पूछा गया – भगवान कहाँ है? तो बोले – भगवान कहाँ नहीं है ! सिद्धान्त और तत्त्व

की दृष्टि से उन्होंने कहा – आप पूछते हैं कि भगवान कहाँ हैं, तो मैं पूछता हूँ कि वह कहाँ नहीं हैं? इसके बाद उन्होंने तत्त्व को भाव के रूप में परिणत करने के लिये सूत्र दिया। रस की उपलब्धि के लिये भाव का उपयोग किया जाता है। रसोपलब्धि के लिये यह अद्‌भुत साधना है। भगवान शंकर बोले – जिस व्यक्ति की जैसी भावना है, वह ईश्वर को उसी रूप में, चाहे जहाँ प्रगट कर सकता है –

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं ।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ।। ...
अग जगमय सब रहित बिरागी ।। १/१८५/६-७

पर ऐसा होते हुए भी – वेदान्त का ब्रह्म विरागी है और जो उसको स्वीकार करना चाहता है, उसे भी विरागी ही होना चाहिए। जब ब्रह्म में एकत्व है, वह विरागमय है, द्रष्टा है, तो आपको भी द्रष्टा बनना है। यदि वह कूटस्थ है, तो आपको भी कूटस्थ बनना है। तो वेदान्त यह पता लगता है कि ब्रह्म कैसा है और भक्त कहता है – आप चाहे जैसे भी हो, पर मैं जैसा चाहता हूँ, वैसे बनिए। ज्ञान माने जैसे है और भक्ति माने उसे हम जैसा चाहते हैं। इसलिए जैसे एक बालक अपने पिता से कहता है कि जरा आप घोड़ा बन जाइए और मैं आपके पीठ पर चढ़ूँ, तो उसका उद्देश्य पिता का अपमान करना नहीं होता। उसको उसी में आनन्द आता है और पिता को भी अपनी पीठ पर बालक को चढ़ाकर यह बोध नहीं होता कि यह इतना छोटा है और मैं इतना बड़ा, यह मेरा अनादर कर रहा है। पिता तो प्रसन्न होता है, वैसा बनकर दिखा भी देता है। ईश्वर सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है – यह सूत्र विभिन्न रूपों में प्रत्येक प्रसंग में आया है।

अब मनु का जीवन-प्रसंग देखें। जब वे वन में जाते हैं, तो उसमें साधना का एक क्रम है। वे जब राज्य में रहना सह नहीं सके, तो वन गये। वन में उन्होंने जो साधना की, उसमें एक क्रम है। पहले वे नैमिषारण्य में गये। नैमिषारण्य एक तीर्थ है, जहाँ मुनिगण निवास करते हैं, साधनाएँ होती हैं। इससे स्वाभाविक रूप से एक वातावरण की सृष्टि होती है।

अनेक स्थानों पर प्रवचन होते हैं। विषय चाहे एक ही हो, पर हर स्थान पर एक जैसा आानन्द नहीं आता – श्रोता को भी और वक्ता को भी। जैसे इस आश्रम में बोलते हुए एक आनन्द की अनुभूति होती है, यहाँ एक वातावरण बना हुआ है, यहाँ निरन्तर एक आध्यात्मिक भाव प्रवाहित होता रहता है। साधना के तत्त्वों की चर्चा होती रहती है। सत्संग होते हैं। अब हमारे स्वामीजी (आत्मानन्दजी) तो बड़ा कष्ट उठाकर नीचे बैठते हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि कुर्सी पर बैठकर सुनिए। पर मैं भी आधे ही मन से कहता हूँ, क्योंकि उन्हें सामने देखकर मुझे अच्छा भी लगता है। उन्हें देखकर मुझे प्रेरणा भी मिलती है। तो यह देश, वातावरण या व्यक्ति का प्रभाव बड़े स्वाभाविक रूप से होता है। तो महाराज मनु को तीर्थों की यात्रा कराई गई –

जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए ।
मुनिन्ह सकल सादर करवाए ।। १/१४३/७

राजा थे तो क्या तीर्थ नहीं किया था? पहले भी सब तीर्थयात्रा कर चुके थे। पर मुनि लोगों ने तो वहीं से प्रारम्भ किया। बोले – जितने तीर्थ हैं, उन सब स्थानों पर जाइए। राजा के रूप में जो तीर्थयात्रा करने गये थे, वह अन्य बात थी, पर अब ईश्वर की प्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा करेंगे, तो वह दूसरी बात होगी। लक्ष्य में भिन्नता हो जाती है। और फिर लिखा हुआ है कि इसके बाद उनको कथा सुनाई –

कृस सरीर मुनिपट परिधाना ।
सत समाज नित सुनहिं पुराना ।। १/१४३/८

पुराणों की कथा सुना रहे हैं। जो कथाएँ वे पहले सुन चुके हैं, वे ही फिर से सुनाई जा रही हैं। इसका भी सूत्र वही है कि आप किस मनस्थिति में और किस भूमि में बैठकर कथा सुन रहे हैं? जिस भूमि में बैठकर आप कथा सुन रहे होंगे, आपको कथा का वही भाग समझ में आवेगा, वही प्रिय लगेगा। आप मन में भी बैठकर कथा सुन सकते हैं, बुद्धि में भी बैठकर सुन सकते हैं, चित्त में भी बैठकर सुन सकते हैं और अहंकार से भी सुन सकते हैं। जब कोई अहंकार में बैठा हुआ सुनेगा, तो उसे प्रतिक्षण यही लगेगा कि इनकी यह बात गलत है, यह वाक्य अशुद्ध है, क्या सिद्धान्त-विरुद्ध बात कर रहा है! पूरे घण्टे भर वह केवल इसी प्रकार खण्डन करता हुआ अपना समय नष्ट करेगा, निरन्तर ऐसे ही सोचता रहेगा। एक श्रोता ने कहा – मैं अमुक का सुनने गया था; उनके भाषण में बत्तीस बार अशुद्ध शब्दों का प्रयोग हुआ। अब इस गणित से भला क्या लाभ है? जो अहंकार में बैठकर सुनेगा, उसकी यही स्थिति होगी। जो मन में बैठकर सुनेगा, उसकी मनोरंजन पर दृष्टि रहेगी – कान को अच्छा लगे। संगीत हो, तो कितना अच्छा लगता है! स्वर सहित गाया जाय तो कितना अच्छा लगता है!

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा ।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ।। ७/५३/४

मनोरंजन मिलता है। इसलिए तो बेचारे वक्ताओं को चुटकले कहने पड़ते हैं। जो लोग मनोरंजन के लिये आए हैं, उन्हें भी तो कुछ मिलना चाहिए। तो आप मन में सुनेंगे, तो बड़ा आनन्द आएगा। बात-बात पर आपको हँसी आयेगी। मधुर स्वर सुनकर अच्छा लगेगा। वह भी एक बात है। पर मन में बैठकर सुनने पर आपके सामने एक आनन्द होगा और दूसरी जगह दूसरा कोई मनोरंजन होगा, तो वहाँ पर भी आनन्द ले लेंगे। यह बड़े महत्त्व का अन्तर है। गोस्वामीजी कहते हैं – कथा सुनने वाले अधिकांश लोग तो मन के स्तर

पर ही सुनते हैं, पर भगवान के भक्त केवल मन से ही नहीं सुनते, वे तो मन-बुद्धि और चित्त सब लगाकर सुनते हैं। जिनकी बुद्धि में कुतर्क नहीं है, जिनके मन में भगवान के चरणों में रति है, उनको राम की कथा मधुर लगती है, केवल स्वर मधुर नहीं लगता –

हरि हर पद रति मति न कुतर की ।
तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ।। १/९/६

स्वर मधुर होना बुरा नहीं, बहुत बड़ा गुण है, मधुरता का उपयोग होना बहुत अच्छा है, पर जब तक मधुरता का रस केवल स्वर में है कथा में नहीं, तब तक श्रोता अधूरा है। जब कागभुशुण्डजी कथा सुनाने लगे, तो गोस्वामीजी ने लिखा – कौवा मधुर स्वर में बोला –

मधुर बचन तब बोलेउ कागा ।। ७/६३/८

कोई पूछ सकता है – कौवे का स्वर भी आपको मधुर लगता है क्या? पर गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि मधुर तो हमारे प्रभु की कथा है। वह तो इतनी मधुर हैं कि कौवे का स्वर भी मधुर लगने लगता है। पर इतनी ऊँची स्थिति सबकी नहीं हो सकती। किसी को तो लगेगा कि स्वर बेसुरा है या कर्कश है या कठोर है। इसमें रामकथा की मधुरता को ग्रहण करना, मन के धरातल पर सुननेवालों के लिये सम्भव नहीं है। यह बात तो उसी के जीवन में आ सकती है, जिसकी वृत्ति उस भगवद्-रस में बिल्कुल रसमयी हो रही है।

जो केवल मनोरंजन के लिये कथा सुनता है, वह जब तक बैठा है, केवल उतनी ही देर के लिये सुनता है; परन्तु जो बुद्धि से कथा सुनेगा, वह बाद में भी जाकर विचार करेगा कि आज कथा में क्या-क्या बातें कहीं गईं ! तो ऐसा न हो कि कथा में मनोरंजन हुआ और हम उठकर चले गये; बल्कि बुद्धिपूर्वक उस पर विचार करना चाहिए कि कथा में क्या कहा गया और उसके विभिन्न पक्ष क्या क्या हैं ! वह मात्र क्षणिक मनोरंजन के लिए न हो। हमारे जीवन में उसका क्या उपयोग हो सकता है? बुद्धि से सुनी हुई कथा क्या है –

सुनि समुझहिं जन मुदित मन
मज्जहिं अति अनुराग ।। १/२
जो सुनत गावत कहत समुझत
परम पद नर पावई ।। ४/३०

'सुनत' यह तो कान की बात हुई, मन की बात हुई, पर 'समुझहिं' – यह बुद्धि की बात है। फिर केवल समझकर ही रह गये, तो भी बात पूरी नहीं हुई। तीसरी बात भी कही गई है – तीन को लगा लेना चाहिए और अहंकार को छोड़कर सुनना चाहिये। वह तीन क्या है? भगवान राम ने लक्ष्मणजी से कहा था – मैं संक्षेप में सब कुछ बता रहा हूँ, इसे मन लगाकर, बुद्धि लगाकर और चित्त लगाकर सुनो –

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई ।
सुनहु तात मति मन चित लाई ।। ३/१५/१

मन-बुद्धि के साथ ही चित्त को भी लगाकर कथा सुनने से क्या होता है? तब हमारा अन्तःकरण ही चित्रकूट बन जाता है। तब कथा केवल मनोरंजन के लिए नहीं, केवल बुद्धि को समझाने के लिए नहीं, बल्कि चित्त-रूपी चित्रकूट में पहुँचाने के लिये होती है। चित्रकूट की विशेषता यह है कि वहाँ भगवान राम श्रीसीताजी विहार करते हैं –

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु ।। १/३१

कथा का चरम फल यही है कि हमारे चित्त के चित्रकूट में भगवान राम और श्रीसीताजी विहार करने लगें। जिनकी कथा सुन रहे हैं, उनका सान्निध्य अनुभव होने लगे।

इसलिए कथा-श्रवण करने का भी एक क्रम है। इसीलिये इतने बड़े राजा को भी, उन लोगों ने फिर से तीर्थ कराया, फिर से कथा सुनाई। और इसके बाद उन्हें मंत्रजप की साधना बताई गई। फिर मंत्रजप की साधना करते-करते अन्त में वह व्यग्रता उत्पन्न हुई। तो पहले तीर्थयात्रा और कथाश्रवण के रूप में बहिरंग साधना की गयी; और तब मंत्रजप के रूप में अन्तरंग साधना की गयी, क्योंकि जप करेंगे तो एक स्थान पर बैठकर करेंगे। तीर्थयात्रा में चलना बड़ा अच्छा है। किसी ने कहा – तीर्थयात्रा में ले जाकर क्यों व्यर्थ ही चरण को दुखावें? गोस्वामीजी बोले – चरण तो वैसे भी दिन-रात दुखा रहे हो। यह जो दिन भर अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये इतने जोर-शोर से चल रहे हो, इससे थक नहीं रहे हो क्या? वह तो बड़ा ही अभागा है, जो संसार की वस्तुओं को पाने के लिये थके। गोस्वामी जी कहते हैं – वे चरण बड़े अभागे हैं, जो भगवान के तीर्थों में गये बिना ही थक जाते हैं। वही श्रम सार्थक है, जिससे साक्षात् भगवान की अनुभूति हो –

चंचल चरन लोभ-लालच लगि
द्वार द्वार जग भागे ।
राम सीय आश्रमनि चलत त्यों
भए न श्रमित अभागे ।।

तो इस क्रम का उद्देश्य है कि कैसे हमारे जीवन में भीतर -बाहर सर्वत्र भगवान के सान्निध्य का, भगवान की कृपा का, उनके गुणों का स्मरण हो। मनु इसी प्रकार की साधना करते हुए किस प्रकार प्रभु को प्राप्त करते हैं और निराकर को साकार बनाते हैं – आगे इसी पर चर्चा होगी। ❑❑❑

काठी नाजा खाचर

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी कुछ संस्मरणों तथा तीन पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

– १ –

चोटिला शहर से कुछ मील दूर पहाड़ियों के बीच 'भीमोरा गढ़' के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं। जिन दिनों की बात कही जा रही है, उन दिनों सूरज खाचर के पुत्र नाजा खाचर इसके स्वामी थे। इस दुर्भेद्य किले में बैठकर वे अपने छोटे-से राज्य की व्यवस्था करते थे। नाजा अपने धर्म में निष्ठावान थे और वीर का धर्म पालन करने में सदा तत्पर रहा करते थे। उस देश के चारणों द्वारा कथित इतिहास में है कि किसी काठियावाड़ी का एक अच्छा घोड़ा* जसदन के काठीराजा का कोई आदमी जबरन छीनकर ले गया। इसके फलस्वरूप उस काठी व्यक्ति ने जसदन के विरुद्ध 'बाहरबटा' (विद्रोह की घोषणा) कर दिया। जसदन की पुलिस जब उसे पकड़कर ला रही थी, उस समय वह भागकर नाजा भीमोरा के गढ़ में आश्रय लिया। उसके ऊपर अन्याय अत्याचार हुआ है, यह जानकर नाजा ने उसे शरण दे दी। जसदन के राजा को जब इस बात का पता चला, तो उसने कहला भेजा, "दुष्ट को आश्रय देना अनुचित हो रहा है; उसे हमारे आदमी के हाथ में सौंप दो।"

नाजा खाचर ने उत्तर दिया, "मैंने उसे आश्रय दिया है। शरणागत को समर्पित करना अधर्म होगा।"

जसदन को यह अपमान सहन नहीं हुआ। वह बदला लेने का मौका देखने लगा। काठिया के दुर्दान्त खाचर काठी लोग नाजा के सहायक थे, इसीलिये जसदन को उनसे अकेले लड़ने का साहस नहीं हुआ। कन्नौज के 'जयचन्द' ने दिल्ली के पृथ्वीराज के विरुद्ध जो उपाय अपनाया था, जसदन के राजा 'ढेला खाचर' ने भी करीब-करीब वही मार्ग अपनाते हुए बड़ौदा के मराठियों को बुलावा भेजा। जसदन से भीमोरा १०-१२ मील दूर होगा; उन लोगों ने रातो-रात मराठी सेना के साथ मिलकर गढ़ को घेर लिया। मराठी सेना के तोप सुबह से ही 'धुड़ुम-धड़ाम' की आवाज करते हुए भीमोर गढ़ में चारों ओर ध्वंश तथा मृत्यु का कराल दृश्य उत्पन्न करने लगे।

किले से भागने का गुप्त रास्ते – सुरंग के विषय में शत्रु लोग तब भी नहीं जानते थे। सभी ने नाजा को भागने की सलाह दी। क्योंकि इन मुट्ठी भर सैनिकों को लेकर मराठों की विशाल सेना के साथ युद्ध करना भूल होगी – इससे अनिवार्य रूप से सबकी मृत्यु होगी। परन्तु नाजा तो भिन्न धातु के बने थे। पलायन तो उनके शब्दकोश में ही नहीं था। वे बोले, "जिसकी इच्छा हो, वह चला जाय, परन्तु नाजा गढ़ छोड़कर नहीं जायेगा। उसके लिये पीठ दिखाने की अपेक्षा मृत्यु हजारगुनी अच्छी होगी।" उनकी दृढ़ता से अन्य सभी लोगों के प्राणों में बल आया। सभी लोग मरने-मारने को तैयार हो गये। उनकी संख्या मुट्ठी भर होने पर भी, उन लोगों का विश्वास था कि किला पहाड़ की कठिन चढ़ाई पर स्थित होने के कारण शत्रुओं को सहसा चढ़ाई करके आक्रमण करने का साहस नहीं होगा।

– २ –

नाजा ने बन्दूकों की आवाज से शत्रुओं को उत्तर दिया। किले में बहुत बड़ी संख्या में सैनिक उपस्थित हैं – ऐसा सोचकर मराठा लोगों को आक्रमण करने का साहस नहीं हो रहा था। दो-तीन दिनों तक इसी प्रकार आपस में गोले-गोलियाँ बरसते रहे। किले के अन्दर जाने का केवल एक ही रास्ता था, बाकी तीनों ओर भयानक पहाड़ी खाइयाँ थीं, जो गढ़ को घेरकर उसकी सुरक्षा का कार्य कर रही थीं। जसदन-वालों को आशंका हुई कि कहीं मराठे ढीले न पड़ जायँ!

इधर गढ़ के अन्दर नाजा की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। धीरे-धीरे गोले-बारूद समाप्त होते जा रहे थे और पानी भी घटता जा रहा था। उनके प्यास से कातर साथियों से अब रहा नहीं जा रहा था। गढ़ के भीतर तो जलाशय था नहीं, अतः पानी नीचे से लाना पड़ता था। जल भला कौन लाता! और उसे लाने भी भला कैसे जाता! चारों ओर मृत्यु का ही ताण्डव नृत्य चल रहा था।

नाजा ने जिस काठी को आश्रय दिया था और जिसके लिये यह युद्ध हो रहा था, जिसके लिये उन्होंने मृत्यु को स्वीकार कर लिया था – उसी काठी भाई से अब नहीं रहा गया। वह रात में किले की चहारदीवारी को लाँघकर शत्रु के शिविर में जा पहुँचा और संकेत से बताया, 'पानी दो, पानी।" इससे मराठों को नाजा की दुरवस्था की बात समझते देरी नहीं लगी। अगली सुबह उन लोगों ने आक्रमण करके गढ़ के मजबूत द्वार को तोड़ डाला।

उस समय दो मारवाड़ी राजपूत तीर्थयात्री नाजा के अतिथि

* पहले के दिनों में काठियावाड़ी घोड़ा पूरे भारत में प्रसिद्ध था।

होकर उनके पास ठहरे हुए थे। वे लोग द्वारका जा रहे थे और रास्ते में थोड़ा विश्राम करने की इच्छा से नाजा का आतिथ्य ग्रहण किया था। युद्ध के सहसा आरम्भ हो जाने के कारण वे लोग वहीं टिके रहने को बाध्य हो गये थे, क्योंकि शत्रुओं ने किले को घेर लिया था ओर गुप्त-मार्ग – सुरंग किसी अपरिचित को दिखाना कदापि उचित नहीं है – यह सोचकर नाजा ने उन्हें उस रास्ते से नहीं निकाला था।

गढ़ के पहले द्वार को शत्रुओं ने तोड़ डाला था, अत: अब नाजा ने उनसे उस गुप्त रास्ते से पलायन कर जाने को कहा। परन्तु जिनकी धमनी में क्षत्रिय राजपूत का खून बह रहा हो, वे अपने आश्रयदाता को ऐसी अवस्था में छोड़कर भला कैसे भाग सकते हैं? क्षत्रिय के लिये मृत्यु तो खेल के समान है। "अठे द्वारका" (द्वारका यहीं है) – कहकर वे हाथों में तलवार लिये शत्रुओं के बीच कूद पड़े और उनके अनेक सैनिकों को गाजर-मूली की भाँति काट दिया। परन्तु शत्रुओं की सेना बहुत विशाल थी। क्रमश: अधिकांश लोग उन लोगों के हाथों वीर गति को प्राप्त हुए।

नाजा खाचर बुरी तरह घायल होकर मरणासन्न होकर पड़े थे। उनका आधा धड़ प्राय: कटकर अलग हो गया था। परन्तु इस पर भी उनकी मुट्ठी बँधे हाथों में अर्धभग्न तलवार दीख रही थी। कहते हैं कि उस समय मराठा सेनापति (बापा राव) का कोई सम्बन्धी सैनिक उस समय वहाँ गया और नाजा की सोने की कण्ठी तथा सोने के हत्थेवाला तलवार देखकर उसे लोभ हुआ। यह सोचकर कि नाजा मर चुके हैं, वह नाजा की कण्ठी खोलने गया, अर्धमृत नाजा का असिबद्ध बाहु उठा और एक ही प्रहार से उसने उस सैनिक के शरीर के दो टुकड़े कर दिये। चारण कहता है – "नाजा के समान मृत्यु दुर्लभ है। आज नहीं तो दो दिन बाद तो सभी को मरना है, परन्तु यह बात कोई नहीं सोचता। परन्तु हे नाजा, तुमने अपने जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक वीर के धर्म का पालन किया और अपने पीछे अक्षय कीर्ति छोड़ गये।" ❑❑❑

कतिपय सूक्तियाँ

पुरुषोत्तम नेमा

कर्मों का फल गया और, जाकर कर्ता को जकड़ा।
नहीं भूलता अपनी माँ को, यथा गाय का बछड़ा।।

रोये नहीं भूत का रोना, करें न चिन्ता भावी की।
जो मिल जाय रहे खुश उसमें, वही मुक्त है जीते-जी।।

नहीं मृत्यु का जो भय माने, मन जिसका आसक्त नहीं।
चाहे रहे भवन या वन में, सच्चा जीवन्मुक्त वही।।

दान-पुण्य हों जिन हाथों से, ज्यों गंधी का वास।
रह जाती है यश-सुगन्ध चिर, कभी न होती नाश।।

वही मिलेगा वापस हमको, जो हमने है बाँटा।
फूल दिया तो फूल मिलेगा, काँटा दो तो काँटा।।

कुछ तो अच्छा आज करें हम, जहाँ कहीं भी होवें।
दिन ढलने के साथ निरन्तर, जीवन पल-पल खोवें।।

देता रहा सतत जग हमको, पोषण व संरक्षण।
सबके प्रति सद्भाव प्रेम से, करना है ऋण-तोषण।।

दुख है साथी जनम-जनम का

दुख है जनम-जनम का साथी,
सुख तो बस मेहमान है।।

घर का ही वह हो जाता है,
जो ज्यादा दिन साथ निभाये,
भाता वह मेहमान सभी को,
यदा-कदा जो घर में आये,
दुख के साथ सदा रहता मैं,
दुख अपनी पहचान है।। दुख है.।।

दुख है अपना निज का अर्जन,
सुख से व्यर्थ लड़ाई क्यों?
प्रिय-अप्रिय में भेद-भाव क्यों,
निन्दा और बड़ाई क्यों?
सहज प्राप्त को अपनाने में,
आन-बान सम्मान है।। दुख है.।।

तन-मन्दिर में मूर्ति उसी की,
जिसने हमें बनाया है,
एक समान सभी अपने हैं,
कोई नहीं पराया है,
प्रेम-भाव की हर चर्चा ही,
मालिक का गुणगान है।।
दुख है जनम-जनम का साथी,
सुख तो बस मेहमान है।।

स्वामी तोतापुरी जी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

दक्षिणेश्वर के 'पागल पुजारी' श्रीरामकृष्ण धर्म-रहस्यों को जानने के लिए की गयीं अपनी कठोर साधनाओं के बाद अपनी आयु के तीसवें वर्ष में कुछ विश्राम ले रहे थे। इन्हीं दिनों शीतकाल (जनवरी १८६५)[१] की एक सुबह वे गंगाजी के घाट की उन सीढ़ियों पर बैठे हुए थे, जो दक्षिणेश्वर मन्दिर की उस छत्री (चाँदनी) में ले जाती हैं, जिसके दोनों ओर एक पंक्ति में ६-६ शिव-मन्दिर बने हुए हैं। छत्री के पूर्व में एक बड़ा प्रांगण है, जिसके बीच में दो मन्दिर खड़े हैं – बड़ा भवतारिणी काली का है और दूसरा राधाकान्तजी का। उसके नीचे गंगाजी उत्तर से दक्षिण की ओर बह रही हैं। वहाँ से दोनों तटों पर स्थित भवनों, उद्यानों तथा छत्रियों की शोभा देखते ही बनती है। श्रीरामकृष्ण वहाँ बैठकर इस सुन्दर दृश्य को निहार रहे थे, पर स्वभाव से ही अन्तर्मुखी उनका मन अधिक देर तक ऐसा नहीं कर सका और वह आनन्दानुभूति में डूब गया, जिसमें उनका मन उन दिनों प्राय: निरन्तर ही डूबा रहता था। मध्यम कद के, कृशकाय श्रीरामकृष्ण के चेहरे पर थोड़ी-थोड़ी अव्यवस्थित छोटी-सी दाढ़ी थी। उनके नेत्रों में काफी उज्ज्वलता थी, पर अन्तर्मुखता के कारण वे प्राय: अर्ध निमीलित रहतीं। उन दिनों बाहर के अधिकांश लोग उन्हें 'पागल पुजारी' कहते, मन्दिर के कर्मचारी उन्हें 'छोटे भट्टाचार्य' कहकर पुकारते, उनके बड़े-बूढ़े रिश्तेदार उन्हें 'गदाधर' कहकर सम्बोधित करते और इने-गिने लोग ही उन्हें 'रामकृष्ण' कहते।[२] उन्हें वहाँ बैठे अधिक देर नहीं हुआ था कि उनकी दृष्टि एक नवागन्तुक परिव्राजक संन्यासी पर जा पड़ी। पुजारी ने बारीकी से उस संन्यासी को देखा।

संन्यासी 'अच्छे डील-डौल का और मजबूत, सुन्दर कद-काठी का था। वह बड़े जीवट वाला और दुर्दमनीय साहस से युक्त था – मानो सिंह के आकार की एक चट्टान हो।'[३] तोतापुरी[४] के नाम से परिचित होनेवाले वे संन्यासी सम्भवत: अपने जीवन के पचास वर्ष देख चुके थे। अपने जटाजूट और लम्बी बिना-सँवरी दाढ़ी की पृष्ठभूमि में उनका रोबीला चेहरा ऐसी प्रशान्ति से दमक रहा था, जो ब्रह्मज्ञान का द्योतक था। वे एक अनोखे परमहंस थे, जिनके पास एक चिमटा, पीतल का एक लोटा तथा बैठने के लिए एक मृगचर्म के अतिरिक्त – अपना कहने को अन्य कुछ भी न था।

तोतापुरी की दृष्टि ज्योंही श्रीरामकृष्ण पर पड़ी, वे आश्चर्य और आनन्द से भर उठे। उन्होंने तत्काल ही श्रीरामकृष्ण की

---

१. इस तिथि के विषय में स्वामी सारदानन्द अपने 'श्रीरामकृष्ण-लीला -प्रसंग' ग्रंथ (रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर) में निम्नलिखित संकेत देते हैं :– **(क)** "उक्त दर्शन-प्राप्ति (श्रीकृष्ण के दर्शन की प्राप्ति) के दो-तीन महीने बाद परमहंस श्रीमत् तोतापुरी का आगमन हुआ था।" (प्रथम खण्ड, सं. २००८, पृ. २६४)। **(ख)** "सम्भवत: सन् १८६५ के अन्त में श्रीमत् तोतापुरी जी दक्षिणेश्वर पधारे थे। उसके कुछ ही महीनों बाद... हलधारी ने कालीमन्दिर के कार्य से अवकाश ग्रहण किया था तथा... अक्षय की नियुक्ति हुई थी।" (वही, पृ. २७०)। **(ग)** "पूज्यपाद आचार्य तोतापुरीजी के दक्षिणेश्वर आगमन के कुछ दिन बाद सन् १८६५ ई. के प्रारम्भ में ... अक्षय ने विष्णु-मन्दिर में पूजक का पद ग्रहण किया था।' (वही, पृ. ३०६) "१८६४-६५ ई. – श्रीमत् तोतापुरीजी का आगमन तथा श्रीरामकृष्णदेव का संन्यास ग्रहण।" (वही, पृ. ५४३)

एक अन्य अधिकारी विद्वान् शशिभूषण घोष ने सुझाव दिया है कि तोतापुरीजी का दक्षिणेश्वर-आगमन सन् १८६६-६७ में हुआ था।' ('श्रीरामकृष्णदेव', उद्बोधन कार्यालय, १९१७, पृ. २६०)

गंगा के मुहाने (गंगासागर) में स्नान करने का पर्व पौष-संक्रान्ति जनवरी १८६५ ई. के बीच में आया था। उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तोतापुरीजी का दक्षिणेश्वर-आगमन १८६५ ई. के जनवरी में किसी दिन हुआ होगा।

२. स्वामी सारदानन्द को लगता है कि तोतापुरीजी ने गदाधर को संन्यास-दीक्षा के समय 'रामकृष्ण' नाम दिया (लीला-प्रसंग, खण्ड १, पृ. २७५)। कुछ लोगों का कहना है कि मथुरानाथ विश्वास ने सबसे पहले इस नाम का उपयोग किया। अन्य कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि भैरवी ब्राह्मणी ने सर्वप्रथम इस नाम से सम्बोधन किया। परन्तु रानी रासमणि ने १८ फरवरी १८६१ को जो न्यास-पत्र निष्पन्न किया, उसमें रामकृष्ण भट्टाचार्य का कालीमन्दिर के एक पुजारी के रूप में स्पष्ट उल्लेख रहना कम-से-कम पहले और तीसरे मतों को काट देता है। बहुत सम्भव है कि उनके माता-पिता ने उन्हें यह नाम दिया हो।

३. रोमाँ रोलाँ : 'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण' (अद्वैत आश्रम, मायावती, १९४७), पृ. ६२।

४. श्रीरामकृष्ण अपने गुरु तोतापुरी का 'न्यांगटा' कहकर उल्लेख करते थे। इसका कारण शायद यह रहा हो कि तोतापुरी नंगे रहा करते थे। (बँगला में 'न्यांगटा' का अर्थ 'नंगा' होता है)। अथवा यह भी सम्भव है कि वे अपने गुरु का नाम न लेना चाहते रहे हों। (लीला-प्रसंग, खण्ड १, सं. २००८, पृ. ५२६)।

अत्युच्च आध्यात्मिक सम्भावनाओं को समझ लिया। वे इस तरुण पुजारी के प्रति आकर्षण का अनुभव करने लगे। वे उसके पास गये और स्वत:स्फूर्त भाव से सीधे पूछा, "तुम उत्तम अधिकारी प्रतीत होते हो, क्या तुम वेदान्त की साधना करना चाहोगे?" श्रीरामकृष्ण ने उठकर विनम्र भाव से उनका अभिवादन किया और बोले, "करने या न करने के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता – मेरी माँ ही सब जानती हैं, उनका आदेश मिलने पर कर सकता हूँ।" युवक की निश्छल सरलता ने साधु को मुग्ध कर दिया, तथापि एक क्षणिक मुस्कान उनके चेहरे पर खिल उठी होगी। उन्होंने तत्काल उस युवक से कहा, "तो फिर जाओ, अपनी माँ से पूछकर मुझे बताओ, क्योंकि मैं अधिक दिन यहाँ नहीं ठहरूँगा।"

बाद में शीघ्र ही तोतापुरी समझ गये कि श्रीरामकृष्ण पूरी तरह से जगन्माता काली पर उसी प्रकार निर्भर थे, जैसे बिल्ली का छोटा बच्चा अपनी माँ पर निर्भर होता है। उनके जीवनीकार ने इसे बड़े सुन्दर शब्दों में निबद्ध किया है, "श्रीरामकृष्ण उस समय कोई भी कार्य स्वत:प्रवृत्त होकर नहीं कर पाते थे। श्रीजगदम्बा के बालक श्रीरामकृष्ण तब उन्हीं पर पूर्णतया निर्भर होकर उन्हीं की ओर दृष्टि निबद्ध कर दिन बिता रहे थे और इस प्रकार परमानन्दपूर्वक चल-फिर रहे थे मानो वे ही उनको घुमा-फिरा रही हों। इसीलिए जगदम्बा भी उनके सम्पूर्ण भार को स्वीकार कर अपने उद्देश्य-विशेष के साधन के निमित्त श्रीरामकृष्ण के अनजाने ही एक अभूतपूर्व नव आदर्श के अनुरूप उनका निर्माण कर रही थीं।"[५] अत: वे काली-मन्दिर में माँ से अनुमति प्राप्त करने गये।

वे शीघ्र ही वापस लौटे। वे भावाविष्ट थे तथा उनका चेहरा दिव्य आनन्द से दमक रहा था। उनकी माता ने उनसे कहा था, "जाओ सीखो, तुम्हें सिखाने के लिये ही संन्यासी का यहाँ आगमन हुआ है।" वे तोतापुरी से बोले, "हाँ जी, माँ ने तुमसे वेदान्त सीखने के लिये मुझे आदेश दिया है।"[६] तोतापुरी को यह जानने में कुछ समय लगा था कि उनका भावी शिष्य अपनी जन्म देनेवाली माँ के पास नहीं, बल्कि काली-मन्दिर में प्रतिष्ठित जगन्माता के पास गया था। चूँकि वे कट्टर वेदान्ती थे, इसलिये उन्हें यह अवश्य ही एक कौतुक लगा होगा। यद्यपि वे देवी-देवताओं में विश्वास को मात्र अन्धविश्वास समझते थे, तो भी सुदक्ष गुरु ने युवक की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचायी, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि बाद में वेदान्त की सहायता से वे शिष्य की इस तरह की बचकानी धारणाओं को दूर कर देंगे।

५. वही, प्रथम खण्ड, पृ. २७०। कुछ दूसरे जीवनीकारों के मतानुसार तोतापुरी के आने के कुछ समय पूर्व ही श्रीरामकृष्ण के मन में अद्वैत-साधना करने की इच्छा उठी थी।

६. गुरुदास बर्मन : 'श्रीरामकृष्ण-चरित' (बँगला) पृ. ७४।

बंगाल के सुदूर ग्रामीण अंचल में जन्मे तथा पले श्रीरामकृष्ण को दक्षिणेश्वर काली-मन्दिर के पुजारी-पद पर दस वर्ष से अधिक हो चुके थे। बचपन की उनकी ईश्वर-दर्शन की चाह बढ़कर अनन्य भक्ति में परिणत हो गयी थी और इसके फल-स्वरूप वे जगदम्बा का दर्शन पाकर शीघ्र ही पूरी तौर से ईश्वरीय भाव में निमग्न हो गये थे। बाहरी लोग उन्हें पागल समझते, क्योंकि उन्हें लगता कि ईश्वर-दर्शन की अन्तहीन चेष्टा में इस व्यक्ति ने अपने पुजारी-पद के कर्तव्यों को भी भुला दिया है। पर कुछ इने-गिने लोगों के लिए, विशेषकर उनकी गुरु भैरवी ब्राह्मणी की दृष्टि में तो वे साक्षात् ईश्वर के अवतार थे। ब्राह्मणी के मार्ग-दर्शन में उन्होंने सफलतापूर्वक सारे तांत्रिक मतों का और तत्पश्चात् वैष्णव मतों का साधन किया था। इसके फलस्वरूप अन्त में उन्हें भगवान श्रीकृष्ण के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन प्राप्त हुआ था और दर्शन के बाद श्रीकृष्ण उन्हीं की देह में समा गये थे। उनके भीतर प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप – 'महाभाव' प्रकट हुआ था, जिसकी चरम परिणति के रूप में में उनकी व्यक्तिगत सत्ता का लोप हो गया था और उन्होंने श्रीकृष्ण को उन्होंने अपने अन्दर और बाहर पूरे जगत् में व्याप्त देखा था। इस प्रकार सगुण ईश्वर की उपासना की पूर्ण सिद्धि हो जाने के बाद, अब उन्होंने अपने सर्वोच्च मार्गदर्शक – जगदम्बा का आदेश सुना कि निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म के सर्वोच्च रहस्यमय जगत् में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाओ।

एक ओर श्रीरामकृष्ण थे, 'जो अपनी आँखों के दर्पण के समक्ष घटनेवाली प्रत्येक घटना के जीते-जागते प्रतिबिम्बित स्वरूप थे – जिनका व्यक्तित्व उस द्विमुखी दर्पण की भाँति था, जो भीतर व बाहर – दोनों ओर की चीजों को प्रतिबिम्बित करता है,"[७] तो दूसरी ओर तोतापुरी थे, जो अपनी लौहसदृश बलिष्ठ देह और शारीरिक तथा मानसिक बनावट के कारण "भावनाओं और प्रेम से शून्य प्रतीत होते थे।"[८] यद्यपि दोनों ही ईश्वरप्राप्ति के पथ के पथिक थे, पर दोनों के व्यक्तित्व के गठन में समानता की अपेक्षा असमानताएँ ही अधिक थीं।

तोतापुरी का जन्म भारत के उत्तर-पश्चिमी अंचल में एक निष्ठावान हिन्दू परिवार में हुआ था। जब वे नितान्त बालक थे, तभी उन्हें एक मठ में भेज दिया गया था। अनेक वर्षों तक कोई सन्तान न होने के कारण उनके माता-पिता ने मनौती मानी थी कि वे अपने प्रथम पुत्र को संन्यासी बनने के लिए भगवान को समर्पित कर देंगे। उस समय भारत के उस क्षेत्र में ऐसी प्रथा प्रचलित थी।[९] तदनुसार बालक को एक बड़े मठ के महन्त को समर्पित कर दिया गया, जो एक प्रसिद्ध योगी भी थे। महन्त की प्रसिद्धि इतनी थी कि उनके

७. रोमाँ रोलाँ, वहीं, पृ. ६२; ८. उपर्युक्त, पृ. ६३

९. लीला-प्रसंग, सं. २००८, प्रथम खण्ड, पृ. ५३०

सम्मान में वहाँ पर प्रतिवर्ष एक मेला लगता, जिसमें लोग मठ के साधुओं को तम्बाकू तथा दूसरी चीजें भेंट करते।[१०]

यह सम्प्रदाय श्री शंकराचार्य द्वारा स्थापित दशनामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'पुरी' शाखा से सम्बद्ध था। इसके सदस्य पूर्णतया नग्न रहा करते थे, इसलिए 'नंगा' या 'नागा' कहलाते थे। पंजाब में लुधियाना के समीप स्थित इस मठ का अनुशासन अत्यन्त कठोर था। संसार से वीतराग हो साधक कड़े नियमों का पालन करते, जिनमें अपरिग्रह और कठोर शारीरिक श्रम शामिल थे। तोतापुरी से श्रीरामकृष्ण ने उस मठ एवं वहाँ साधकों से करायी जानेवाली साधनाओं के बारे में सुना था, "उनकी टोली में सात सौ नागा रहते थे। जिन लोगों ने ध्यान सीखना प्रारम्भ ही किया था, उन्हें गद्दी पर बैठाकर ध्यान कराया जाता था, क्योंकि कठिन आसन पर बैठकर ध्यान करने से उनके पैरों में दर्द होना स्वाभाविक था और उससे उनका अनभ्यस्त मन ईश्वर में न लगकर शरीर की ओर ही लगा रहता। तदनन्तर ज्यों-ज्यों ध्यान जमने लगता, त्यों-त्यों उन लोगों को अधिकाधिक कठोर आसन पर बैठाकर ध्यान कराया जाता था। अन्तत: उन्हें केवल चर्मासन या नंगी जमीन पर बैठकर ध्यान करना पड़ता था। भोजन आदि के विषय में भी इस तरह के नियमों का पालन करना पड़ता था। सभी शिष्यों को क्रमश: नग्न रहने का अभ्यास कराया जाता था। मनुष्य – जन्म से ही लज्जा, घृणा, भय, जाति, कुल, शील, मान आदि में आबद्ध रहता है; अत: एक-एक करके उनको त्याग देने की शिक्षा दी जाती थी। इसके बाद ध्यानादि में मन अच्छी तरह से लग जाने पर सर्वप्रथम उसे अन्य साधुओं के साथ, तदनन्तर अकेले तीर्थ-पर्यटन करना पड़ता था। नागाओं में इस तरह के नियम प्रचलित थे।"[११]

इस प्रकार तोतापुरी का लालन-पालन संसार-प्रपंच से दूर सर्वत्यागी साधुओं की स्नेहमय देखरेख में हुआ था। उसके मस्तिष्क और हृदय की विशेषताओं ने महन्त का ध्यान आकृष्ट कर लिया, अत: वे उस पर विशेष ध्यान देते। अपनी तीव्र मेधा[१२] की सहायता से वह अल्प समय में शास्त्रों में पारंगत हो गया। उसमें योग्यता के लक्षण दिखने पर उसे अद्वैत-साधना में दीक्षित कर दिया गया। संन्यास-धर्म में आनुष्ठानिक रूप से प्रविष्ट होने के बाद वह तोतापुरी नाम से परिचित हुआ। तोतापुरी को अब उन कठोर साधनाओं में लगा दिया गया, जिनके पीछे युगों के अनुभवों की मान्यता रही है। "उनके गुरुदेव उन्हें जैसा उपदेश देते थे, उनका मन भी ठीक-ठीक उसे धारण कर सदा वैसा आचरण किया करता था। उन्हें सम्भवत: कभी मन के छल-कपट के कारण विशेष कष्ट उठाना नहीं पड़ा था।... उनका सीधा-साधा मन सरल रूप से ईश्वर पर विश्वास रखकर गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट गन्तव्य पथ पर धीरता के साथ अग्रसर हुआ था और आगे बढ़ते हुए उसने एक बार भी अतृप्त लालसा से पीछे मुड़कर संसार के पाप-प्रलोभनों की ओर नहीं देखा होगा। इसीलिए अपने पुरुषार्थ, उद्यम, आत्मनिर्भरता तथा आत्मविश्वास को ही तोतापुरीजी ने सब कुछ मान रखा था।"[१३]

"पुण्यतोया नर्मदा के तट पर दीर्घकाल तक एकान्तवास करते हुए साधन-भजन में निमग्न रहकर उन्होंने इससे पूर्व निर्विकल्प समाधि-मार्ग से ब्रह्म-साक्षात्कार किया था – यह बात वहाँ के प्राचीन साधुवर्ग अभी भी कहते हैं।"[१४]

इस प्रकार ४० वर्ष की कठोर साधनाओं ने उन्हें ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ कर दिया था, इसके बावजूद उन्होंने अपने जीवन के कठोर नियमों तथा साधनाओं को बनाये रखा।[१५] उनके गुरुदेव के बाद यथासमय उन्हें मठ की गद्दी पर बिठाया गया।[१६]

तो भी उन्होंने जीवन्मुक्त परिव्राजक का जीवन ही अधिक पसन्द किया। वे उन्मुक्त पवन की भाँति देश भर में भ्रमण करते रहे। जहाँ भी उन्हें कोई निष्ठावान साधक दिखायी देता, उसे वे वेदान्त की साधना में प्रोत्साहित करते और उसकी शिक्षा देते। कोई सोच सकता है कि जब स्वामी विवेकानन्द ने निम्नलिखित पंक्तियों की रचना की, तो उनकी दृष्टि के समक्ष ऐसा ही कोई आदर्श संन्यासी रहा होगा –

मत जोड़ो गृह-द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास?
दुर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वत: जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान-पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर संन्यासी, छेड़ो तान ... ।[१७]

ये परिव्राजक संन्यासी गंगासागर और पुरीधाम का दर्शन करने

१०. उपर्युक्त, पृ. ५३०: **११.** वही, पृ. ५३०-१

१२. तोतापुरी की बुद्धि के विषय में श्रीरामकृष्ण की बड़ी ऊँची धारणा थी। छोटे नरेन्द्र के बारे में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने कहा, "इसकी बुद्धि कितनी सूक्ष्म है। नागा इसी तरह बहुत जल्द समझ जाता था – गीता, भागवत में जहाँ जो कुछ है, वह समझ लेता था।" (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, भाग २, पृ. ८८१-८२)

१३. लीलाप्रसंग, खण्ड १, पृ. ५३२; **१४.** वही, पृ. २७१

१५. 'नागा' कहा करता था, "लोटा रोज रगड़ना चाहिए, नहीं तो मैला पड़ जाएगा। साधु-संग सदैव ही आवश्यक है।" (वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ. ८२१); **१६.** तोतापुरी के शब्दों का स्मरण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नागाओं में जिसे ठीक ठीक परमहंस दशा की प्राप्ति होती थी, गद्दी खाली होने पर सब उसे ही महन्त निर्वाचित कर गद्दी पर बिठाते थे।... जिसके हृदय से कांचन की आसक्ति यथार्थ में दूर हो जाती थी, गद्दी पर बैठाकर रुपये-पैसे का भार उसे ही सौंपा जाता था।" (लीलाप्रसंग, खण्ड १, पृ. ५३१)

१७. 'विवेकानन्द साहित्य' (मायावती), खण्ड १०, पृ. १७५

करने जाते हुए मार्ग में दक्षिणेश्वर-मन्दिर आये थे।[१८] नि:सन्देह वे पैदल चलकर ही इतनी दूर आये थे। वे इस मन्दिरोद्यान में आते ही पहले उस छत्रीवाले घाट पर गये, जहाँ सीढ़ियों पर उन्हें यह असाधारण युवक बैठा हुआ मिला था।

जैसा कि तोतापुरी का नियम था, वे कभी किसी छत के नीचे विश्राम नहीं करते थे। चाहे आँधी हो या तेज धूप, वे सर्वदा रातें या तो वृक्ष के नीचे बिताते या फिर अनन्त आकाश के नील वितान के नीचे। अपने इस परिव्रजन काल में वे कभी तीन दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं रहे। सम्भव है कि श्रीरामकृष्ण के ही सुझाव पर उन्होंने पंचवटी के नीचे आसन ग्रहण किया और धूनी जला ली। श्रीरामकृष्ण का वर्णन वहाँ पर तोतापुरी के दैनन्दिन जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करता है, "इसलिए दक्षिणेश्वर में निवास करते समय पंचवटी में वृक्ष के नीचे आसन स्थापित करके 'न्यांगटा' वहाँ ही रहते थे और अपने समीप धूनी जलाकर रखते थे। चाहे धूप हो या वर्षा, 'न्यांगटा' की धूनी समान रूप से जलती रहती थी। 'न्यांगटा' का भोजन, शयन सब कुछ उसी धूनी के समीप होता था। और जब गहरी रात्रि में समग्र बाह्य जगत् विश्राम-दायिनी निद्रा की गोद में समस्त चिन्ताओं को भूलकर मातृ-क्रोड़-स्थित शिशु की भाँति सुखपूर्वक सो जाया करता था; 'न्यांगटा' उस समय उठकर धूनी को भलीभाँति चेताकर सुमेरु की तरह अटल-अचल हो, आसन पर बैठकर निर्वात-निष्कम्प दीप के सदृश अपने शान्त मन को समाधिमग्न कर देते थे। दिन में भी 'न्यांगटा' बहुत देर तक ध्यान किया करते थे; लोगों को कहीं उसका पता न लग जाय, इसका उन्हें विशेष ध्यान रहता था, इसीलिए 'न्यांगटा' बहुधा अपने शरीर को सिर से पैर तक चद्दर से ढँककर धूनी के पास मृत व्यक्ति की तरह लम्बे होकर लेटे हुए दीख पड़ते थे। लोग समझते कि वे सो रहे हैं।"[१९]

पंचवटी के नीचे तोतापुरी की व्यवस्था जम जाने के बाद दोनों महापुरुष उस गम्भीर शान्त वातावरण में अध्यात्म के गूढ़, रहस्यमय तत्त्वों पर चर्चा करने लगे। तोतापुरी ने अपने इस नये शिष्य के साथ प्रारम्भिक चर्चाएँ शुरू कीं। दूसरी बातों के साथ उन्होंने उन तैयारियों की भी चर्चा की, जो शिष्य को अद्वैत वेदान्त के रहस्य में दीक्षित करने के लिए करनी पड़ेंगी। शिष्य को औपचारिक रूप से संन्यास का व्रत लेना पड़ेगा। श्रीरामकृष्ण संसार-त्याग के लिए तुरन्त तैयार हो गये। तब उन्हें बताया गया कि ऐसा करने के लिए उन्हें शिखा और सूत्र का त्याग करना होगा और श्राद्ध आदि का अनुष्ठान सम्पन्न करना होगा। श्रीरामकृष्ण को अपनी माता चन्द्रामणि देवी का स्मरण कर थोड़ी हिचक हुई, क्योंकि उन दिनों उनकी वृद्ध माता भी उनके साथ ही दक्षिणेश्वर में रहती थीं। उन्हें लगा कि उनके संन्यास-ग्रहण से माँ चिन्तित और आकुल हो जाएँगी। इसलिए उन्होंने तोतापुरीजी से अनुरोध किया कि सभी अनुष्ठान एकान्त में गोपनीय ढंग से होने चाहिए, ताकि उनकी माता को उनका पता न चले। ऐसा लगा कि गुरु ने शिष्य की भावना का आदर किया, क्योंकि उन्होंने तत्काल कहा, "ठीक है, जब शुभ मुहूर्त आएगा, तब मैं गुप्त रूप से तुम्हें दीक्षा प्रदान करूँगा।"

नि:सन्देह गुरु और शिष्य के बीच यह सारा वार्तालाप हिन्दी में हुआ होगा, क्योंकि दोनों के बीच भावों के आदान-प्रदान का वही एकमात्र माध्यम था। प्राय: निश्चित रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि तोतापुरी ने अपने इस प्रथम वार्तालाप में ही अपने प्रिय विषय – अद्वैत-वेदान्त के मूलभूत सिद्धान्तों की भूमिका बाँधी होगी। बाद में श्रीरामकृष्ण उनकी कुछ उक्तियाँ प्राय: ही उद्धृत किया करते थे –

"मैंने न्यांगटा से वेदान्त सुना था – 'ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है'।"[२०]

"न्यांगटा कहा करता कि संसार मन में ही स्थित है और वह मन में ही विलीन हो जाता है।"

"न्यांगटा कहा करता था – मन का लय बुद्धि में, और बुद्धि का लय ज्ञान-स्वरूप में हो जाता है।"[२१]

"न्यांगटा उपदेश देता था, सच्चिदानन्द ब्रह्म कैसे हैं – जैसे अनन्त सागर है, ऊपर नीचे, दाहिने बायें पानी-ही-पानी है। वह कारण है – स्थिर पानी है। कार्य के होने पर उसमें तरंग उठने लगीं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय – यही कार्य है। फिर कहता था, विचार जहाँ पहुँचकर रुक जाय, वही ब्रह्म है। जैसे कपूर जलाने पर उसका सर्वांश जल जाता है, जरा भी राख नहीं रह जाती।"[२२]

तोतापुरी अपनी बात समझाने के लिए कभी-कभी कोई कथा भी सुनाते। उनमें से एक था बाघिन और भेड़-बकरियों के झुण्ड की कथा, जो बाद में श्रीरामकृष्ण की प्रिय कथा बन गयी थी। ऐसा विचार मन में उठ सकता है कि ऐसी चर्चाओं में श्रीरामकृष्ण का योगदान क्या रहा होगा। यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके शिशुवत् स्वभाव ने गुरु के रूप में स्वीकृत अपने शिक्षक के समक्ष अपने समूचे जीवन और अनुभूतियों को स्पष्ट रूप से खोल देने के लिए प्रेरित किया होगा। जब तोतापुरी को ज्ञात हुआ है कि श्रीरामकृष्ण विवाहित हैं, तो उन्होंने अपने शिष्य को सान्त्वना देते हुए कहा, "इससे हानि ही क्या है? पत्नी के समीप रहने पर भी

१८. गुरुदास बर्मन (उपर्युक्त) के अनुसार, तोतापुरी गंगासागर जाने के रास्ते में दक्षिणेश्वर आये, पर स्वामी सारदानन्द (लीलाप्रसंग, खण्ड १, पृ. २७१) लिखते हैं कि तोतापुरी गंगासागर से लौटते हुए दक्षिणेश्वर आये थे। **१९.** लीलाप्रसंग, खण्ड १, पृ. ५२७

२०. वचनामृत, सं, १९९९, भाग १, पृ. ३१६; **२१.** वही, भाग २, पृ. ११५८; **२२.** वही, भाग १, पृ. ४०१

जिसके त्याग, वैराग्य, विवेक और विज्ञान सर्वथा अक्षुण्ण बने रहते हैं, उसी को यथार्थ रूप में ब्रह्म में प्रतिष्ठित माना जाता है।''[२३] इस प्रकार गुरु ने शिष्य की मनोभूमि को अद्वैत-सिद्धान्तों की धारणा करने के लिए तैयार किया था।

निश्चित तिथि को, ब्राह्म मुहूर्त में,[२४] शिष्य ने पूर्वकृत्य सम्पन्न किये तथा होमाग्नि में विरजा होम सम्पन्न कर गुरु से संन्यास-जीवन के चिह्न के रूप में कौपीन तथा गेरुआ वस्त्र प्राप्त किये। तत्पश्चात् उन दोनों ने पंचवटी के नीचे निर्मित फूस की कुटिया में प्रवेश किया। यहाँ श्रीरामकृष्ण ने गुरु के निर्देशानुसार अपने मन को समस्त इन्द्रिय-विषयों से हटा लिया और वे उसे निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में डुबाने की चेष्टा करने लगे। पर उस अतीन्द्रिय अवस्था में पहुँचने की केवल एक ही बाधा थी और वह थी जगदम्बा की वराभयकरा ज्योतिर्मयी मूर्ति। तथापि गुरु के दृढ़तापूर्ण उपदेश की सहायता से तथा स्वयं के अडिग निश्चय के बल पर उनका मन इस नाम-रूपात्मक जगत् के परे चला गया और उन्हें निर्विकल्प समाधि लग गयी। जब यह समाधि निरन्तर तीन दिनों तक नहीं टूटी, तब तोतापुरी इस बात का स्मरण करके विस्मय-विभोर हो गये कि इसी अवस्था को पाने के लिए उन्हें सुदीर्घ चालीस वर्षों तक कठोर तपस्या करनी पड़ी थी। परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों तोतापुरी को आश्चर्य-विह्वल करनेवाली बातें अधिकाधिक प्रकट होती गयीं। श्रीरामकृष्ण, अपने अन्य गुरुओं के समान ही, तोतापुरीजी की आध्यात्मिक जीवन की कमियों को भी क्रमशः दूर करने वाले थे। इधर तोतापुरी, जो वहाँ तीन दिन से अधिक नहीं रुकने वाले थे, सुदीर्घ ग्यारह महीने दक्षिणेश्वर में रह गये। उस अवधि में उनके साथ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके द्वारा उन्हें अपनी कुछ भ्रान्त धारणाओं को सुधारने में मदद मिली। बाद में उनके इस परिवर्तन का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण कहा करते, ''न्यांगटा ने 'नेति-नेति' का विचार करते हुए, वेदान्त की प्रक्रिया से ब्रह्मज्ञान लाभ किया था। पर न्यांगटा ब्रह्म की शक्ति को सत्य नहीं मानता था। वह कहता कि ब्रह्म की शक्ति तो माया है, मिथ्या है; और इस प्रकार वह शक्ति की ठिठोली किया करता। पर उसके यहाँ ग्यारह महीने के निवास-काल में माँ काली ने उसे अद्वैत का सत्य सिखा दिया, यह समझा दिया कि ब्रह्म और माया अभिन्न हैं; वैसे ही ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं।''[२५]

इस शिक्षा-क्रम में अपनी भूमिका के विषय में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, ''मैं एक ज्ञानी के पंजे में फँस गया, उसने ग्यारह महीने तक वेदान्त सुनाया। परन्तु वह मुझमें भक्ति का बीज बिल्कुल नष्ट नहीं कर सका! घूम फिरकर वही 'माँ-माँ'! जब मैं गाता था तब (न्यांगटा) रोने लगता था। कहता था, 'अरे, यह तूने क्या सुनाया!' देखो, इतना बड़ा ज्ञानी था, तो भी रोने लगता था।''[२६]

शिष्य की बुद्धिमत्ता का गुरु पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि तोतापुरी अपने शिष्य को परमहंस[२७] कहकर सम्बोधित करने लगे और बाद में यही नाम सर्वत्र प्रचलित हो गया। इस प्रकार तोतापुरी का मन समाहित हुआ और प्रशान्ति से भर उठा। अन्त में वे दक्षिणेश्वर से विदा होकर अपनी तीर्थयात्रा पूरी करने चल पड़े। श्रीरामकृष्ण को फिर कभी उनका कोई समाचार नहीं मिला, पर बाद में जब श्रीरामकृष्ण के शिष्यों को पश्चिमोत्तर भारत में परिभ्रमण के समय तोतापुरीजी की महानता के बारे अनेक बातें सुनने को मिली थीं। ❑❑❑

---

२३. लीलाप्रसंग, प्रथम खं., पृ. २९३।

२४. स्वामी सारदानन्द का यह दृढ़ मत है कि श्रीरामकृष्ण की संन्यास-दीक्षा तोतापुरी के दक्षिणेश्वर-आगमन के अल्पकाल बाद ही हुई थी। (लीलाप्रसंग, प्रथम खण्ड, पृ. २७२-७३)

२५. द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी अभेदानन्द, भाग १०, पृ. ६४०

२६. 'वचनामृत', तृतीय भाग, पृ. १७४।

२७. गुरुदास बर्मन, उपर्युक्त पृ. ७६।

धर्म न दूसर सत्य समाना

हृदय के भीतर भक्तिभाव रखो, कपट-चतुराई छोड़ दो। जो सांसारिक कर्म करते हैं – दफ्तर में या व्यापार आदि का कार्य करते हैं, उन्हें भी सत्यनिष्ठ होना चाहिए। सच बोलना कलियुग की तपस्या है।

सत्य को दृढ़ता के साथ पकड़े रहने पर भगवान की प्राप्ति होती है। सत्य पर निष्ठा न रहे, तो धीरे-धीरे सब कुछ नष्ट हो जाता है। उस अवस्था (ईश्वर-दर्शन) के बाद मैंने हाथों में फूल लेकर जगदम्बा से कहा था, ''माँ, यह ले तेरा ज्ञान, यह ले तेरा अज्ञान; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरी शुचिता, यह ले तेरी अशुचिता; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरा भला, यह ले तेरा बुरा; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरा पुण्य, यह ले तेरा पाप; मुझे शुद्ध भक्ति दे।'' परन्तु जिस समय यह सब कहा था, उस समय यह नहीं कह सका कि ''माँ, यह ले तेरा सत्य, यह ले तेरा असत्य।'' माँ को सब कुछ दे सका, पर 'सत्य' न दे सका। – ***श्रीरामकृष्ण***

ईश्वर से प्रेम कैसे हो?

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने १ मार्च, २००६ को श्रीरामकृष्णदेव के जयन्ती के शुभ अवसर पर विवेकानन्द आश्रम के 'श्रीरामकृष्ण मन्दिर' में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन डॉ. आशा जैन ने किया है।)

वन्दनीया माताओ एवं सुहृद भक्तजनो,

आज हम सब यहाँ भगवान श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती मनाने के लिए एकत्र हुए हैं। भारतीय संस्कृति में जन्मतिथि मनाई जाती है, जैसे रामनवमी, जन्माष्टमी आदि आदि। हम लोग पुण्यतिथि नहीं मनाते। पुण्यतिथि की परिकल्पना दूसरी संस्कृति से आई है। १९०२ ई. में स्वामी विवेकानन्द की भौतिक देह नहीं रही, उसके अगले वर्ष उनके कुछ भक्तों ने उनकी पुण्यतिथि मनानी चाही। लेकिन बेलूड़ मठ से लिखित पत्र आया कि रामकृष्ण मठ तथा मिशन का कोई सदस्य किसी भी पुण्यतिथि के आयोजन को न बढ़ावा देगा और न उसमें शामिल होगा।

ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण यह है कि हम अपने गुरु तथा इष्ट को कभी भी मृत नहीं मानते। वे इस स्थूल देह के त्याग के उपरान्त दिव्य देह में निवास करते हैं और व्याकुलता से पुकारने पर उनका दर्शन और स्पर्शन दोनों ही होता है।

इस सम्बन्ध में दो घटनाओं का उल्लेख करना चाहूँगा। जब परमहंसदेव दक्षिणेश्वर में निवास करते थे, तब श्री विजयकृष्ण गोस्वामी जी एक बार ढाका गए। उनकी श्रीरामकृष्ण पर अगाध श्रद्धा थी। वहाँ जब वे पूजा कर रहे थे, तो उन्होंने अचानक देखा कि ठाकुर वहाँ बैठे हैं। उन्हें लगा कि यह उनके मन का भ्रम है। फिर उन्होंने दोबारा देखा, उन्हें फिर से प्रसन्न वदन श्री ठाकुर दिखाई पड़े। तब अपने संदेह का निवारण करने के लिए उन्होंने ठाकुर को स्पर्श किया और अनुभव किया कि सचमुच ठाकुर ही बैठे हैं। तदनन्तर जब वे दक्षिणेश्वर आए, तब उन्होंने ठाकुर से अपना अनुभव सुनाते हुए कहा कि मैं आपको पहचान गया। उनकी बात सुनकर श्री ठाकुर केवल हँस पड़े।

श्री ठाकुर के देहत्याग के कई वर्ष बाद, श्री बलराम बसु, जिनका घर ठाकुर का कलकत्ते का बैठकखाना था, जो ठाकुर के अत्यन्त प्रिय गृहस्थ भक्त थे, ठाकुर के आश्रित थे, वे मृत्यु शैय्या पर थे। श्री माँ और कुछ संन्यासी-भक्तों ने देखा कि श्री ठाकुर अत्यन्त प्रसन्नवदन एक दिव्य रथ लेकर बलराम बसु के घर उतरे और बलराम को उसमें बिठाकर अनन्त में विलीन हो गए। बाद में सूचना मिली कि उसी समय श्री बलराम बसु का देहत्याग हुआ था।

इन उदाहरणों से यह समझ में आना चाहिए कि प्रथमत: हमारे गुरु, हमारे इष्ट सर्वदा विद्यमान हैं। दूसरी बात, श्रीमाँ सारदा का आश्वासन है कि शरणागत होने पर कम-से-कम मृत्यु के समय तो वे (श्रीरामकृष्ण) आयेंगे ही।

उपनिषद् का वचन है – ईश्वर: अस्ति इति विश्वास:। प्रश्न है – ईश्वर: कुत्र अस्ति? – ईश्वर कहाँ है?

सन्त कहते हैं – ईश्वर: मम हृदये अस्ति – ईश्वर मेरे हृदय में हैं। अत: ईश्वर सर्वदा विद्यमान हैं और मेरे हृदय में ही हैं। हृदयस्थ ईश्वर प्रत्यक्ष हो, यही आध्यात्मिकता का लक्ष्य है। स्वयं के भीतर ईश्वरत्व की अनुभूति के लिए किया जाने वाला प्रयास साधना है। इससे अलग आध्यात्मिकता कुछ भी नहीं है।

हमारे उत्सव वर्ष में एक बार आते हैं। ठाकुर जयन्ती, श्रीमाँ सारदा जयन्ती, स्वामीजी जयन्ती, कल्पतरू दिवस, दीक्षा-तिथि – आप इनमें से किसी तिथि को अपना आध्यात्मिक जन्म-दिवस मान लें। शरीर की आयु जितनी भी हो, परन्तु आध्यात्मिक आयु तो इतनी ही है, जितने समय से आध्यात्मिक लक्ष्य का निर्धारण हुआ और गुरु से भगवान का नाम मिला। अपने इस आध्यात्मिक जन्मदिवस पर आप स्वयं को ठाकुर या अपने इष्ट को समर्पित करें। वर्ष पर्यन्त यह समर्पण बना रहे। जो आपसे साधना करने के लिए कहा गया है, वह आप करें। जितना आपसे बन सके, उतना करें। फिर अगले वर्ष जब वह तिथि आए, तो आप सोचें कि एक वर्ष पूर्व आपने क्या निश्चय किया था? कितना उसके अनुरूप आचरण किया? पुन: उसे करने का संकल्प लें, और करें। इस तरह करने से आप साधन-पथ पर अवश्य अग्रसर होंगे।

जिस प्रकार एक नवजात शिशु को या नूतन पौधे को अत्यन्त सावधानी से रक्षित किया जाता है, ठीक उसी तरह अपने आध्यात्मिक शैशव की आप सावधानी से रक्षा करें। साथ ही, उसमें समय के अनुरूप वृद्धि हो, वह पुष्ट हो, यह प्रयास करें। केवल तभी इस देह के रहते ही 'हमारे हृदय में ईश्वर हैं' – हमें इसका अनुभव होगा। 'नान्य: पन्था विद्यते अयनाय' – इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। यह राजमार्ग है।

किसी गृहस्थ के घर जाने पर यदि हम कभी मृत्यु की बात करते हैं,, तो वे तुरन्त कहते हैं अरे महाराज अशुभ बातें न करें। इसमें अशुभ क्या है? न कहने से क्या मृत्यु नहीं आएगी? मृत्यु का स्मरण रखना चाहिए। देह एक निश्चित समय में अवश्य नष्ट होगी। अत: मृत्यु की तैयारी

करना चाहिए। यह विश्वास रखना चाहिए कि जब हमने उनका आश्रय लिया है, तो कम-से-कम अंत समय में तो ठाकुर अवश्य आयेंगे। परन्तु केवल कहने से आश्रय नहीं होता। प्रतिक्षण स्वयं को समर्पित करने का प्रयास करते रहना चाहिये। भगवान गीता में कहते हैं –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। ९/२७

यह समर्पण की भावना सतत् बनाये रखें। तब मृत्यु के समय अपने कृत्यों को याद करके पश्चाताप नहीं होगा और प्रतिदिन के अभ्यास से हम ठाकुर पर निर्भर हो पायेंगे। तभी वे अन्त समय में आयेंगे। हमें अपने इष्ट पर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होना चाहिये और अपने साधन पर पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। भगवद् समर्पण से ही सब हो जाएगा।

जब तक अपने अंदर का शिवत्व जागृत न हो जाए, तब तक 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा', साधना का मार्ग है। जब अपने अन्दर प्रतिक्षण शिवत्व का अनुभव होगा, तभी ठीक-ठीक शिव-ज्ञान से जीव सेवा हो पाएगी।

ईश्वर में प्रेम कैसे हो?

रामकृष्ण वचनामृत के रचनाकार श्रीम ने श्रीरामकृष्ण से पूछा था – ईश्वर में मन किस तरह लगे? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''सर्वदा ईश्वर का नाम गुणगान करना चाहिए।''

ईश्वर के नाम-गुणगान से क्या होगा? इस सम्बन्ध में मैं आपको एक उदाहरण बताऊँ। एक बार मैं एक परिवार में निमन्त्रण पर भिक्षा के लिये गया था। वहाँ की गृहस्वामिनी अपनी पुत्री के घर से एक वर्ष रहकर लौटी थीं। क्योंकि उसको पुत्र हुआ था और देखने वाला दूसरा कोई नहीं था। मेरे पहुँचने पर २-३ मिनट में कुशल-प्रश्न के उपरान्त उन्होंने अपने नाती के बारे में बताना शुरू किया। उसके रंग-रूप-नाम, विभिन्न क्रिया-कलाप आदि के बारे में वे अति आनन्दित होकर बताने लगीं। इसमें उन्हें समय का भान तक नहीं रहा और प्राय: पचास मिनट तक वे बोलती रहीं। फिर हमें जाने के लिए प्रस्तुत देखकर उन्हें याद आया – अरे, भोजन तो हुआ ही नहीं !

इसमें खास बात यह है कि चूँकि उन्हें अपने नाती से प्रेम था, अत: सहज ही वे उसका नाम-गुण का वर्णन कर रही थीं और उस प्रेम की अभिव्यक्ति देने के साथ-साथ उस प्रेम के संस्कार को और पुष्ट कर रही थीं।

यह एक गोल-चक्र है। नाम-गुण-कीर्तन से प्रेम होता है और प्रेम से नाम-गुण-कीर्तन। चूँकि अभी हमें ईश्वर से सहज प्रेम नहीं है और न उनकी स्पष्ट धारणा है, अत: उनका नाम, रूप-गुण का स्मरण-कीर्तन करने पर हम उनके बारे में जान पायेंगे, और क्रमश: उनमें प्रेम भी जाग्रत होगा।

इसके लिये आप लोग कुछ वचनामृत का, भक्तों के जीवन और अनुभवों का, उपदेशों का पाठ करें और जब भी एक से अधिक साधक एकत्र हों, इन्हीं की चर्चा करें। तब आप कुछ-कुछ समझ पायेंगे और साधना का, ईश्वर के प्रति प्रेम का धीरे-धीरे संस्कार पड़ेगा। अंकुर जमने की देर है, वृक्ष होने में देर नहीं।

दूसरी बात श्री रामकृष्णदेव कह रहे हैं – ''सत्संग करना चाहिए। बीच-बीच में भक्तों और साधुओं से मिलना चाहिए।'' देखिए आपको बीच-बीच में साधु-संग और भक्तों का संग करने के लिये ठाकुर कह रहे हैं। परन्तु सत्संग सर्वदा करना चाहिये।

सत्संग कैसे करें?

सत्संग कैसे हो? संग मन का होता है। अत: अपने मन में इष्ट का नाम लें। उनके उपदेशों का चिन्तन करें। उसे अपने जीवन में आचरण करने की कोशिश करें और साधु-संग करें।

साधु-संग से जीवन में प्रेरणा मिलती है

साधुओं को देखने से प्रेरणा मिलती है। उन्होंने लोकोत्तर उद्देश्य के लिए सांसारिक या लौकिक जीवन का त्याग किया है। ऐसा उन लोगों के जीवन को देखने से स्वयं उस मार्ग में कुछ करने के लिए मन प्रेरित होता है। भक्तों के साथ मिलने से इष्ट और साधन की चर्चा होती है। जिसकी चर्चा होती है, उसी के संस्कार मन पर पड़ते हैं और उसमें निष्ठा बढ़ती है।

साधु दर्शन का अर्थ है कि साधु को देखकर ईश्वर का स्मरण होना चाहिए। सन्मार्ग पर दृढ़ता से चलने का विचार आना चाहिए। जीवन में परिवर्तन होना चाहिए।

भक्तों का संग करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हम भक्त हैं, साधक हैं और कभी साधना के विपरीत ऐसी बातें न करें, जो हमारे मन को ईश्वर से भटका दे।

भक्त कभी भी कुसंग न करे

संसार चर्चा, परनिंदा, परचर्चा, मिथ्याचार, मिथ्यावचन ये सब कुसंग हैं। साधक को कभी भी अपना समय इनमें नष्ट नहीं करना चाहिए। इनसे मन पर संसार का संस्कार और अधिक गहरा होता जाता है और हमें भगवान से दूर कर देता है। मन से संसार के मिट जाने पर हृदयस्थ ईश्वर प्रकट हो जाता है। अत: ऐसे किसी कार्य में समय नष्ट न करें, जो संसार से मन को बाँधता हो।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – ''संसार में दिन-रात विषय के भीतर पड़े रहने से मन ईश्वर में नहीं लगता। कभी-कभी निर्जन स्थान में जाकर ईश्वर की चिन्ता करना बहुत जरूरी है। प्रथम अवस्था में बीच-बीच में एकान्तवास किए बिना ईश्वर में मन लगाना बड़ा कठिन है। पौधे को चारों ओर से

रूँधना पड़ता है, नहीं तो बकरी चर लेगी।''

जहाँ चाह, वहाँ राह

कुछ लोग कहते हैं कि हम निर्जन स्थान कहाँ से पायें? मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आप शौच-स्नान इत्यादि के लिये निर्जन की व्यवस्था करते हैं? संसार-धर्म के लिए निर्जन की व्यवस्था करते हैं? यदि इन सबके लिये निर्जन की व्यवस्था कर सकते हैं, तो साधना के लिये आप निर्जन की व्यवस्था क्यों नहीं कर सकते?

भोग और योग, दोनों के लिए निर्जन की आवश्यकता होती है। यदि आप चाहें, तो कुछ समय के निर्जन की अवश्य व्यवस्था हो सकती है। यह भारतवर्ष है। अभी भी यहाँ धर्म के संस्कार हैं। यदि बच्चा भूखा हो और माता पूजा कर रही हो, तो वह बालक भोजन के लिए प्रतीक्षा कर लेगा, माँ जब पूजा से उठेगी, तब भोजन देगी। वह विघ्न यथासंभव नहीं डालेगा। अत: कुछ समय का एकान्त जरूर मिल सकता है। फिर यहाँ हर २-३ किलोमीटर पर कोई-न-कोई धर्म-स्थल अवश्य है। यह ठाकुर जी का विशाल मंदिर है। यहाँ भी, या किसी भी मंदिर में कुछ समय एकान्त में बैठकर ईश्वर-चिन्तन हो सकता है। परन्तु तभी जब हम चाहें।

असल बात है, मन में निर्जन होना चाहिए। मन में हर समय संसार का, स्त्री-पुरुष-पुत्र, व्यवसाय, कीर्ति आदि का चिन्तन होता रहेगा, तो ईश्वर चिन्तन नहीं हो पाएगा।

धीरे-धीरे ईश्वर चिन्तन का, सचेतन चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए।। एक-दो मिनट से ही शुरू करें उत्तरोतर इस समय में वृद्धि करने का प्रयास करें। मन जितना अधिक समय ईश्वर चिन्तन करने में समर्थ होगा, उतनी ही मन में निर्जनता बढ़ती जाएगी और संसार की जो प्राणांतक पकड़ हमने खुद पर बना रखी है, वह ढीली होगी।

इस प्रकार जब हम ईश्वर चिन्तन का सचेतन निर्णय लेते हैं, जब बीच-बीच में इसके लिये एक समय निकालते हैं, तब हमारा मन भी यह मानने लगता है कि जीवन के लिये यह भी महत्वपूर्ण है। फिर ईश्वर में मन लगने में ज्यादा मुश्किल नहीं होती। जब तक आप अपने आध्यात्मिक जीवन को महत्व नहीं देंगे, तब तक आपका मन कैसे महत्व देगा? अत: शुरुआत में केवल निश्चित समय पर बैठें, भगवान का नाम लें। कुछ न हो सके, तो केवल बैठें और हृदय से प्रार्थना करें, कि प्रभु मेरा मन अपने में लगा दो। इससे संस्कार बनेगा और क्रमश: मन लगने लगेगा।

शुरु में दृढ़ निश्चय के साथ मन से दूसरे विचारों को दूर करने होंगे। छोटे पौधे को रूँधना पड़ता है। बड़े वृक्ष में तो हाथी बंध सकता है। अत: साधन पुष्ट होने पर, फिर संसार बंधन नहीं रहेगा।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''ध्यान करना चाहिए मन में, कोने में और वन में। और सर्वदा सत् असत् विचार करना चाहिए। ईश्वर ही सत् अथवा नित्य वस्तु हैं और सब असत्, अनित्य है। बारम्बार इस प्रकार विचार करते हुए मन से अनित्य वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।''

यहाँ ठाकुर हमारी बुद्धि को ईश्वरोन्मुखी करने का उपाय बता रहे हैं।

हमारी बुद्धि ने अनित्य संसार को नित्य समझ कर पकड़ रखा है। बुद्धि को नित्य अपरिवर्तनशील वस्तु का विचार करने का अभ्यास करवाना होगा, तब वह क्षणभंगुर संसार में आसक्त नहीं होगी और मन नित्य वस्तु ईश्वर का चिन्तन करने में समर्थ होगा।

सदुपयोग करें, आसक्त न हों

आप सब गृहस्थ हैं। मास्टर महाशय भी गृहस्थ थे। श्री ठाकुर उनसे कहते हैं – मन से त्याग करना होगा। इसका अर्थ है – उपयोग करें आसक्त न हों। नित्य—अनित्य विचार से जब विवेक जागृत होगा, तभी यह संभव हो पाएगा। अत: सब समय नित्य-अनित्य का विचार करना होगा, ताकि मन-बुद्धि इस बात को ठीक-ठीक समझ ले कि ईश्वर ही एकमात्र सत् वस्तु हैं।

एक बार एक मित्र ने मुझे एक शेविंग रेजर दिया और कहा कि यह use and throw वाला है। इस्तेमाल करें और फेंक दें, इसमें कुछ भी बदलना नही हैं। धार खराब होने पर फेंक देना है। मुझे लगा कि क्या ही अच्छा जीवन-दर्शन है ! सभी वस्तुओं के लिए यह उपयोगी दर्शन है। उपयोग करो और उपयोगिता समाप्त होने पर उसे छोड़ दो। उसमें अपने 'मैं और मेरा' का योग न करो, तब कोई भी वस्तु, या व्यक्ति, मन को बाँध नहीं पाएगा। अत: गृहस्थ को सांसारिक आसक्ति का त्याग करना है, बाहरी त्याग नहीं। मन जो सांसारिक प्रेम में संलग्न है, उसे वहाँ से हटाकर ईश्वर-प्रेम में लगाना होगा, तब क्रमश: मन सहजता से ईश्वर से प्रेम करने लगेगा।

अत: अंत में आप सबसे यही कहूँगा कि आप जहाँ हैं, वहीं से शुरूआत करें। किन्तु करें और तब आप अपने जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर कितना अग्रसर हुए, इसका स्वयं मूल्यांकन कर पायेंगे।

आपका आध्यात्मिक जीवन पुष्ट हो, इस प्रार्थना के साथ यहाँ अपनी बात समाप्त करता हूँ। ❑❑❑

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१२)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

प्रथम परिच्छेद

(भक्तों पर प्रेमानन्द की असीम कृपा)

आज ३१ दिसम्बर १९१५ का दिन है। आरती तथा जप-ध्यान के बाद बाबूराम महाराज मन्दिर से नीचे उतर कर अपने स्वाभाविक तेज गति से पूर्व की ओर के बरामदे में खड़े हैं और देख रहे हैं कि दर्शक-कक्ष में कोई भी साधु-ब्रह्मचारी नहीं आये हैं और वहाँ कोई लालटेन तक नहीं लायी गयी है। प्रचलित नियम का उल्लंघन होते देख वे बड़े नाराज हुए और उच्च स्वर में बोले, "क्यों जी, तुम लोग सब कहाँ हो? अब तक कोई भी नहीं आया? अब तक यहाँ एक रोशनी तक नहीं लायी गयी है। तुम लोगों को कब क्या करना, इसका जरा-सा भी ध्यान नहीं है!"

उनके इतना कहते-न-कहते क्षण भर में ही साधु-ब्रह्मचारी-गण हड़बड़ा कर चारों ओर से आकर दर्शक-कक्ष में उपस्थित हुए। उनमें से एक ब्रह्मचारी हाथ में एक लालटेन लिए दौड़ते हुए आकर सबसे पहले दर्शक-कक्ष में प्रविष्ट हुए।

सबके बैठ जाने पर बाबूराम महाराज भी दक्षिण की ओर मुख किये, लालटेन के उत्तर की ओर बैठे। एक ब्रह्मचारी पाठ शुरू करने को तैयार हुए। बाबूराम महाराज ने पूछा, "क्यों रे, आज तुम लोगों को इतना विलम्ब क्यों हुआ?

एक साधु – "समय से कैसे आयेंगे महाराज, यहाँ कितने ही बाहर के लोग आते हैं और रहते हैं! उनमें से कोई-कोई तो यहाँ लेटा रहता है और कोई सोया रहता है।"

बाबूराम महाराज – "अहा! अहा! ये लोग सोयेंगे नहीं? ऐसी नींद और कहाँ होगी? जानते हो, संसार में इन्हें कितनी चिन्ता आदि लगी रहती है, कितने दु:ख-कष्ट रहते हैं? लोग जल-भुनकर यहाँ थोड़ा प्राण को शीतल करने, थोड़ी शान्ति पाने के लिये आते हैं। ऐसा शान्तिपूर्ण स्थान अन्यत्र कहाँ है? कहते हो कि ये लोग सब सोते हैं! और सोते हैं, तो भी क्या? तुम लोग हो किसलिए? घर-बार छोड़कर, सर्वस्व त्यागकर तुम लोग सबको जगाने के लिए ही तो आये हो। ठाकुर-स्वामीजी विश्व-ब्रह्माण्ड को जगाने आये थे। तुम सभी उन्हीं का कार्य करने आये हो। तुम लोग इस मोह-निद्रा-ग्रस्त देश को – इस जगत् को जगाओगे। क्या इन कुछ लोगों को नहीं जगा सकोगे? तुम लोगों को जगा हुआ देखते ही तो इन लोगों की नींद टूट जायगी।"

ये बातें कहते-कहते बाबूराम महाराज के मुख-मण्डल पर लालिमा और तेज छा गया। सभी लोग मौन थे। थोड़ी देर तक वह कक्ष तथा उसके आसपास का परिवेश मानो एक अभिनव स्तब्धता से अभिभूत होकर महाराज की ओजस्वी वाणी के गाम्भीर्य तथा माधुर्य में वृद्धि करता रहा।

थोड़ी देर बाद "उठा, क्या पढ़ना है, पढ़" – कहते हुए बाबूराम महाराज ने निस्तब्धता भंग की।

गीता का पाठ आरम्भ हुआ। बाबूराम महाराज श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के जीवनालोक में श्लोकों की व्याख्या करके बताने लगे। इस दौरान ठाकुर-स्वामीजी के जीवन की कुछ घटनाओं पर विशेष चर्चा हुई। वे बोले, "गीता ही ठाकुर का जीवन है और ठाकुर का जीवन ही गीता है। ठाकुर इस युग की जीवन्त गीता हैं। अहा, इसे कौन समझेगा!"

दो-तीन श्लोकों का पाठ होते-न-होते प्रसाद पाने का घण्टा पड़ गया। सभी प्रसाद पाने चले गये।

द्वितीय परिच्छेद

(पवित्रता ही भगवान हैं)

बँगला संवत १३२२ (१९१६ ई.) के आश्विन की २९ वीं तिथि को शारदीय दुर्गापूजा की महाष्टमी का दिन है। बाबूराम महाराज चारों ओर घूम-फिरकर आये और पूर्व की ओर के बरामदे की बेंच पर बैठ गये। उन्हें बैठे देखकर चारों ओर से लोग आकर एकत्र होने लगे। कोई-कोई उन्हें प्रणाम करने लगे। वे किसी से, "क्यों, कैसे हो?" या फिर किसी से, "क्यों, ठीक तो हो न!" – कहकर कुशल आदि पूछने लगे। बीच-बीच में उनके कण्ठ से गम्भीर स्वर में 'जय गुरु, श्री गुरु' की ध्वनि निकलकर समवेत भक्तों के चित्त को स्थिर तथा शान्त करने लगी। बातचीत के दौरान 'संसार के सुख-दुख', 'भगवान क्या हैं' आदि प्रश्न भी उठे।

बाबूराम महाराज – "भगवान क्या हैं, जानते हो? पवित्रता ही साक्षात् भगवान हैं। यदि भगवान में भक्ति और विश्वास हो, तो फिर भय की कोई बात नहीं। जो कुछ चाहिए, सब आ जाता है।

"संसार कैसा है, जानते हो? ठीक कुत्ते की पूँछ जैसा! इसे लेकर चाहे जितनी भी खींचातानी करो, सीधा नहीं कर

सकोगे। चाहे जितनी भी चेष्टा क्यों न करो, संसार के दुख-दैन्य तथा अशान्ति कभी पूरी तौर से दूर नहीं होंगे। संसार में मिथ्याचरण, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि लगे ही रहेंगे। अहा! महामाया का यह कैसा खेल है! कैसे उन्होंने बाहरी चमक-दमक के द्वारा सबको माया-मोह में आच्छन्न कर रखा है! सब माया की डोरी से बँधे हैं, इसीलिए सभी भूले हुए हैं। परन्तु एक व्यक्ति को वे बाँध नहीं सकीं। जानते हो किसको? – स्वामीजी को।

''श्रीरामकृष्ण जब अस्वस्थ होकर काशीपुर के उद्यान में निवास कर रहे थे, तब स्वामीजी (विवेकानन्द) ने एक दिन उनसे कहा, 'आपका कितना स्नेह, कितनी कृपा पा रहा हूँ, पर इससे क्या लाभ हुआ – यह जरा भी समझ नहीं पा रहा हूँ।' श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, 'कुछ समय बीतने दे, समय आने पर क्रमश: समझेगा कि क्या लाभ हुआ।' नरेन ने कहा, 'समय आने पर समझूँगा! यदि कल ही मर जाऊँ तो?' ठाकुर बोले, 'जा, तेरा कल से ही हो जायेगा!'

''स्वामीजी के ऊपर ठाकुर की कितनी कृपा थी! इसीलिए तो महामाया कितना भी प्रयास करके उनके पास से होकर भी नहीं गुजर सकीं। स्वामीजी के पास आकर महामाया मानो केंचुए की तरह हो जाती थीं।''

एक भक्त – ''महाराज, उनकी कृपा कैसे प्राप्त होगी?''

बाबूराम महाराज – ''भीतर और बाहर एक करना होगा, सत्यनिष्ठ तथा सरल बनो, तभी उनकी कृपा होती है।''

बँगला सन् १३२२, आश्विन ३०, दोपहर के करीब बारह बजे होंगे। बाबूराम महाराज भक्तों से आवृत्त होकर बैठे हैं। विविध विषयों पर चर्चा तथा धर्मप्रसंग चल रहा है।

बाबूराम महाराज – ''रामायण में काकभुसुण्डि की कथा है। उनकी किसी युग में मृत्यु नहीं होती। चाहे महिषासुर का वध हो या द्वापर में कुरुक्षेत्र का युद्ध हो – उन्होंने सब देखा है। वे चिर काल से है। हमारा धर्म भी वैसा ही है। इसका कोई आदि नहीं, कोई अन्त नहीं, यह नित्य, शाश्वत, परम पवित्र, असीम मंगलकारी और चिर-शान्ति का आगार है। जो धर्म का आश्रय ग्रहण करता है, उसकी रक्षा धर्म ही करता है – **यतो धर्मस्ततो जय:**। धार्मिक व्यक्ति को भय कैसा? **स्वल्पमपि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** – पालन किया गया अल्प-सा धर्म भी महान् भय से रक्षा करता है।

इस प्रसंग के समाप्त होते ही प्रसाद पाने के लिये घण्टा पड़ गया। सभी प्रसाद पाने चले गये।

वीरेश्वर कई दिनों से बाबूराम महाराज के साथ बातें करने का मौका देख रहे थे। आज रात को आरती के बाद वह अवसर आया देखकर उन्होंने उनके पास जाकर पूछा, ''महाराज, थोड़ा दया करके बता दीजिए कि मैं यहाँ कैसे रहूँगा?''

बाबूराम महाराज – ''और कैसे रहेगा? खूँटी को पकड़े रहना – पवित्रता रूपी खूँटी को। नाम के साथ ही नामी भी रहते हैं। भगवान को अवलम्बन बनाकर रहना। ठाकुर ही तुम लोगों की खूँटी हैं।''

वीरेश्वर – ''बीच बीच में 'मैं-मेरा' का अभिमान, अहंकार आदि बहुत कुछ आकर प्रकट हो जाते हैं!''

बाबूराम महाराज – ''क्यों? क्या थोड़ा-सा फुफकारने का भाव नहीं रहेगा? इसके बिना काम नहीं चलता। परन्तु भीतर खूब नरम-कोमल भाव रखना चाहिए। बाहर से तो थोड़ा कठोर रहेगा ही। जान लेना और कहना – मैं प्रभु का दास हूँ, मुझे मठ के सभी लोग अच्छा समझते हैं, मैं भला कैसे इसके विपरीत भाव ग्रहण करूँगा! मैं ठाकुर को पुकारता हूँ, उनकी बातों का चिन्तन करता हूँ, तो भी क्या बुरे भाव आ सकते हैं? इस प्रकार अपने पर भी फुफकारना पड़ता है।''

वीरेश्वर – ''आजकल पुलिस का झंझट इतना बढ़ गया है कि अच्छे कार्यों के पीछे भी वे लोग किसी राजनीतिक उद्देश्य का सन्देह करते हैं। इसलिये जिन लोगों को आश्रम का कार्य करने की विशेष इच्छा है, वे भी डरते हैं।''

बाबूराम महाराज – ''सच्चाई से कार्य करने पर किसका भय होगा? चालाकी रहे, तभी भय होता है, समझे! ठाकुर के कार्य में कोई चालाकी नहीं रहती – जैसा भीतर है, वैसा ही बाहर भी है। जैसा सोचते हैं, वैसा ही बोलते हैं और वैसा ही कार्य करते हैं। इसमें कोई भय नहीं हो सकता। **माभै: माभै:**। भय ही पाप है, भय ही मृत्यु है।''

वीरेश्वर ने निश्चित किया था कि अगले दिन वे कलकत्ते लौट जायेंगे। बाबूराम महाराज से विदा लेने हेतु उन्हें इधर-उधर ढूँढ़ते हुए उन्होंने देखा कि बाबूराम महाराज स्वामीजी के मन्दिर के निकट बिल्व-वृक्ष के नीचे पूर्व की ओर मुख किये एकाकी बैठे न जाने क्या सोच रहे हैं। उनका गैरिक-वसन-भूषित गौरा रंग प्रभात की रवि-रश्मियों में नहाकर मानो एक अवर्णनीय प्रभा से उद्भासित हो रहा है। थोड़ा आगा-पीछा करने के बाद उन्होंने जाकर प्रणाम किया।

महाराज ने पूछा, ''क्यों? जा रहे हो?''

वीरेश्वर – ''जी हाँ। तो फिर चलूँ, महाराज। थोड़ी कृपादृष्टि बनाये रखियेगा।''

महाराज – ''भय कैसा? जान रखना कि ठाकुर की कृपादृष्टि है। बहरमपुर कब जा रहे हो?''

वीरेश्वर – ''बारह-तेरह दिन बाद जाऊँगा।''

महाराज – ''जाते समय एक बार यहाँ होकर जाओगे न?

वीरेश्वर – इच्छा तो ऐसी ही है, महाराज।

❖ (क्रमश:) ❖

अजामिल और नाम-माहात्म्य

स्वामी शुद्धानन्द

दुनिया में जितने भी भाव हैं, जितने भी मत हैं, सभी सत्य हैं। भगवान सत्य-स्वरूप हैं, अत: उनके द्वारा निर्मित जगत् में वास्तविक असत्य जैसा कुछ हो ही नहीं सकता। जिसे हम लोग जादू, मिथ्या या भ्रान्ति कहते हैं, वह भी वस्तुत: असत्य नहीं, अपितु किसी-न-किसी सत्य की आच्छादित अभिव्यक्ति है। तथापि हमारी दृष्टि में जो चीजें असत्य अथवा सत्य-असत्य का मिश्रण प्रतीत होती हैं, वह हमारी ही दृष्टि-हीनता के कारण है। जिस दृष्टि का आश्रय लेने पर उनकी सत्यता तथा सुन्दरता को देखा जा सकता है, उसका अभाव होने के कारण ही हम उन्हें समझ नहीं पाते। जिस व्यक्ति ने सर्वप्रथम किसी विषय-विशेष को सत्य समझा था, जिन्होंने सर्वप्रथम किसी विषय-विशेष को सत्य देखा था, वे ही उस मंत्र के द्रष्टा हैं। उनके जैसी दृष्टि हम लोगों की नहीं है, इसीलिये हम लोग 'तत्त्व' में 'भ्रम' को देखते हैं। अन्यथा चाहे जानें या न जानें, हम प्रत्येक अनुभव के माध्यम से सत्य का ही स्पर्श करते हैं और हमारा प्रत्येक भाव, मत या कल्पना भी किसी-न-किसी सत्य के आधार पर उत्थित होती है। उनमें से प्रत्येक उस-उस सत्य का ही विकृत दर्शन मात्र है – इस विषय में कोई भ्रम नहीं होना चाहिये।

ज्ञानी व्यक्ति देखते हैं कि जगत् भावमय है – अत: वे इसमें पूर्णत: असत्य कुछ भी नहीं देख पाते। वे लोग पापाचारी की कुत्सित चेष्टाओं के पीछे भी इसी प्रकार दृष्टि-हीनता-प्रसूत विकृत-भावापन्न सत्यानुराग ही देखा करते हैं। उन लोगों के समान दृष्टि मिल जाने पर ही सभी वस्तुओं को सहानुभूति की दृष्टि से देखने की शक्ति आती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन लोगों में ऐसी दृष्टि का विकास नहीं हुआ है, वे जगत् के प्रत्येक विचार या मत के भीतर के सत्य तथा सौन्दर्य के उपभोग से वंचित हैं।

सभी देशों के धर्म के इतिहास का अध्ययन करने पर देखा जा सकता है कि उनमें भी ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है, जो आज की दृष्टि तथा युक्ति के साथ किसी भी प्रकार से मेल नहीं खातीं। हमारे वर्तमान विचारों के साथ उनका मेल नहीं खाता, इसलिये भी उन्हें बिल्कुल उड़ा देने का कोई कारण समझ में नहीं आता। सम्भव है कि जिन्होंने सर्वप्रथम उस घटना को लिपिबद्ध किया, उन्होंने उसे जिस दृष्टि तथा भाव से देखा था, हम लोग भी यदि उसे उसी भाव से देख सकें, तो उसमें कुछ भी युक्ति-विरोधी नहीं दिखायी देगा। तब सम्भव है कि हम देखेंगे कि उसका उद्देश्य हृदय का कोई सौन्दर्य दिखाना था, न कि बुद्धि का; तब हम समझेंगे कि परवर्ती टीकाकारगण क्रमश: उसे हृदय के राज्य से निकाल कर बुद्धि के राज्य में लाने का असम्भव प्रयास करते हुए अन्तत: असंगति के दोष में आ पड़े हैं।

उदाहरणार्थ यहाँ पुराणों से अजामिल का उपाख्यान लिया जा सकता है। हम लोग प्राय: ही सुनते हैं कि अजामिल ने पुत्र के नाम से नारायण को पुकारा और इससे उसका उद्धार हो गया। इससे कई लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि साधन-भजन कुछ भी किये बिना, किसी भी प्रकार मृत्यु के पूर्व एक बार भगवान का नाम उच्चारण कर पाने से ही उनका सारा कार्य सम्पन्न हो जायेगा – ईश्वर की प्राप्ति हो जायेगी। परन्तु भागवत को खोलकर देखने से कुछ दूसरी ही बात समझ में आती है। हम देखते हैं कि अजामिल पहले एक ब्राह्मण थे। उन्होंने यथारीति शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया था और पहले उनका स्वभाव भी बड़ा सुन्दर था। वे सदाचारी तथा यम-नियम आदि अनेक गुणों से सम्पन्न थे। वे सर्वदा व्रत का पालन करते थे और एक मृदु-स्वभाव, सत्यवादी, मंत्रज्ञ तथा पवित्र व्यक्ति थे। वे निरहंकारिता के साथ गुरु, अग्नि, अतिथि तथा वृद्धों की सेवा में लगे रहते थे। उनका समस्त प्राणियों के साथ सौहार्द भाव था। वे अत्यन्त साधु-स्वभाव के तथा मितभाषी थे और किसी को कोई कष्ट नहीं देते थे।

पूर्व अवस्था में उनके अन्दर इतने सद्गुण थे। परन्तु हम लोगों में से जो लोग अजामिल-पद के लिये प्रयासी होते हैं, उनमें से अधिकांश लोगों में उपरोक्त सद्गुणों में से एक भी होने का दावा कर सकते हैं या नहीं, इसमें हमें सन्देह है। अस्तु। कुसंग के कारण उनका पतन हो गया। दासी के गर्भ से उनके दस पुत्र हुए और उनमें से सबसे छोटे का नाम 'नारायण' रखा गया। यही पुत्र ब्राह्मण को सर्वाधिक प्रिय था। पुत्र का नाम नारायण रखने से यह समझा जा सकता है कि यद्यपि ब्राह्मण ने कुसंग में पड़कर गलत मार्ग पकड़ लिया था, तथापि वे अपनी पहले की भगवन्निष्ठा पूरी तौर से नहीं भूल सके थे।

इसके बाद अपनी मरणासन्न अवस्था में उन्होंने अपने पुत्र 'नारायण' के नाम का स्मरण किया। भागवत में लिखा है कि पहले तो यमदूत ही उन्हें लेने के लिये आये थे, उसके बाद नारायण का नाम उच्चारण होते ही विष्णु के दूत आ पहुँचे। यहाँ पर सन्देह की बात यह है कि नारायण शब्द के द्वारा क्या अजामिल के हृदय में भगवद्भाव का बिल्कुल भी उदय नहीं हुआ? यदि न हुआ हो, तो हम लोग भी तो विभिन्न कारणों से भगवान के नामयुक्त अनेक शब्दों का

उच्चारण किया करते हैं, तो हम लोगों के पास विष्णु के दूत क्यों नहीं आते? इससे ऐसा लगता है कि यदि यह घटना सचमुच की ऐतिहासिक घटना हो, तो निश्चय ही पुत्र के नाम से नारायण शब्द का उच्चारण करते समय भावयोग (Association of ideas) से उनके मन में नारायण का भाव भी उठा था और सम्भवत: रोग द्वारा विकारग्रस्त उनके अपने ही मन की दोनों प्रकार की वृत्तियों ने ही साकार रूप धारण करके उनके समक्ष उपस्थित होकर आपस में तर्क किया था। जैसे स्वप्न में हम सभी के साथ कभी-कभी ऐसा हुआ करता है। यमदूत कह रहे हैं, "इसने अनुचित कर्म किये है, उनका दण्ड भोगना होगा।" और विष्णु के दूत कह रहे हैं, "नहीं, भगवान की उपासना से सारे पापों का नाश हो जाता है।"

सामान्य लोगों के मन में एक ऐसी धारणा है कि अजामिल उस अवस्था में मर जाने के बाद विष्णु के दूतों द्वारा विष्णुलोक में ले जाया गया। परन्तु भागवत में भिन्न बात कही गयी है। उनके मन का विकार (सन्निपात) दूर हो जाने के बाद उनकी चेतना लौट आयी। परन्तु यमदूत विष्णु के दूतों की वह बात कभी भूल नहीं सके, वह उनके प्राणों में बैठ गयी थी। अत: वे अपने पहले के लिये हुए कुकर्मों के लिये खूब पश्चाताप करने लगे और सोचा कि पुत्र को पुकारने हेतु नारायण नाम का स्मरण करने से मुझे ऐसे सिद्ध महापुरुषों का दर्शन तथा सदुपदेश सुनने को मिला; तो सचमुच ही भगवान की उपासना करने पर मेरी न जाने कितनी उन्नति होगी। यह सोचकर वे बोले, "मैं दुबारा कहीं फिर घोर पापों में निमग्न न होऊँ, इसलिये मैं अपने मन-प्राण तथा इन्द्रियों का संयम करूँगा। अविद्या, कामना तथा कर्म द्वारा उत्पन्न इस बन्धन को दूर करके – समस्त प्राणियों का मित्र, शान्त, दयावान तथा आत्मवान होकर स्त्री-रूपिणी स्व-माया से ग्रस्त अपनी आत्मा को मुक्त करूँगा। इस समय मेरी बुद्धि सत्य वस्तु में प्रविष्ट हुई है। देह आदि में जो 'मैं', 'मेरा' आदि अभिमान है, उसे त्यागकर चित्त को भगवत्-कीर्तन आदि के द्वारा शुद्ध करके उन्हीं भगवान के चरणों में स्थापित करूँगा।"

इतना कहकर वे अपना सर्वस्व त्यागकर हरिद्वार चले गये। वहाँ पर आसन लगाकर वे योग-साधना में लग गये और इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में मनोनियोग किया। इसके बाद चित्त की एकाग्रता के द्वारा उन्होंने आत्मा को देह-इन्द्रियों से पृथक् करके उसे ज्ञानमय परब्रह्म-स्वरूप भगवान में लगा दिया।

उसी समय पहले दिखे हुए विष्णुदूत पुन: आये और उन्हें वैकुण्ठ ले गये।

जो लोग केवल एक बार ही भगवान का नाम लेकर भगवान को पाना चाहते हैं, उनमें से कितने लोग अजामिल के समान सर्वत्याग तथा योग-साधना करने को तैयार हैं?

इस प्रकार भागवत में लिपिबद्ध अजामिल का जीवन-चरित प्रचलित कथा से काफी भिन्न है। इसके साथ ही भगवान के नाम-माहात्म्य के ऊपर जो प्रचलित विश्वास है, वह भी भागवतकार की दृष्टि में परिवर्तन के योग्य प्रतीत होता है। परन्तु जिस-जिस दृष्टि के आधार पर शास्त्र में विभिन्न बातें कही गयी हैं, उनकी भला कौन खोज करता है? सुखप्रिय मनुष्य कष्ट की ओर देखना तक नहीं चाहता।

हमारे देश की आम जनता जिन्हें धर्म-अधर्म की व्यवस्था देने का उत्तरदायित्व सौंपकर निश्चिन्त है, वे विद्वान् लोग इस विषय में पूर्णत: उदासीन हैं। सब कुछ समझते हुए भी वे लोग जरा भी ऐसा कोई प्रयास नहीं करते, जिससे आम जनता का विश्वास शास्त्र-दृष्टि पर स्थापित हो। इसके अतिरिक्त ज्योतिषियों की भ्रमपूर्ण अयौक्तिक गणनाएँ और कथा कहने-वालों का सच्चे शास्त्रों से बहुत दूर जाकर, मूर्खों का मनोरंजन करनेवाले विकृत शास्त्र-व्याख्या ने, सामान्य लोगों – विशेषकर महिलाओं के विश्वास को जिस भयंकर भँवर में पहुँचा दिया है, उसे देखनेवाला कौन है? जन-साधारण में शिक्षा के प्रसार को छोड़कर उन्हें इस भँवर से निकालने का अन्य कोई उपाय नहीं दिखता।

हमने देखा कि नाम-माहात्म्य में विश्वास करने में युक्ति-विरोधी कुछ भी नहीं है। परन्तु सामान्य लोग उसे जिस भाव से देखते हैं, वह उचित नहीं है। यदि शोध तथा परीक्षा की जाय, तो और भी कितने ही हमारे हृदय के प्रिय विश्वास, जिन्हें हम काफी काल से सत्य के रूप में देखने के अभ्यस्त हैं; वे भाव मिथ्या सिद्ध होकर, एक अन्य भाव से – एक अन्य दृष्टि से सत्य प्रमाणित होगी। पाठकगण क्या आप इसे जानते ही उन नवीन दृष्टियों को आधार बनाकर उन्हें अपने जीवन में अपनाने को तैयार हैं? ❑❑❑
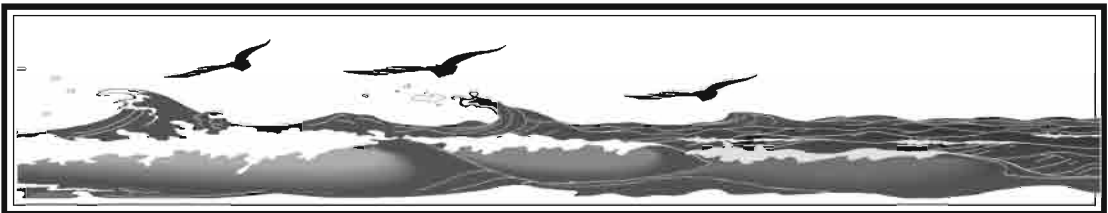
'रामनाम-संकीर्तन' का इतिहास (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

नाम-रामायण की रचना

पहले हम बता आये हैं कि महाराज स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने १९०९ ई. में पहली बार 'रामनाम-संकीर्तन' की आवृत्ति बैंगलोर में सुनी थी और बाद में उसे राग-ताल आदि के साथ सर्वत्र प्रचारित किया था। लगता है कि पहले उसकी आवृत्ति मात्र करने की प्रथा ही कर्नाटक में प्रचलित थी। रामकृष्ण कौशिक अपने संस्मरणों में बताते हैं कि १९१६ ई. में, जब वे महज सात वर्ष के थे, उनके पिता 'महाराज' को आमंत्रित करके शिवसमुद्रम् स्थित अपने घर ले गये। "जब महाराज हमारे गाँव आये, तो उन्होंने हमें रामनाम की आवृत्ति करते सुना। हमारे घर में प्रतिदिन शाम को प्रार्थना के रूप में रामनाम की आवृत्ति करने की परम्परा थी। स्मरणीय है कि आज भी कर्नाटक के प्राय: हर गाँव तथा नगर के भजन-मन्दिर में 'रामनाम' गाने की प्रथा है। हम लोग 'रामनाम' को वैसे नहीं गाते थे, जैसा कि मठ में गाया जाता है, बल्कि गद्यरूप में इसकी आवृत्ति करते थे। हम लोग 'रामनाम' की हर पंक्ति का अन्तिम शब्द 'रामा' के रूप में उच्चारण करते थे, न कि 'राम' के रूप में, जैसा कि उत्तर भारत में प्रचलित है तथा रामकृष्ण मिशन के केन्द्रों में गाया जाता है।" वे यह भी बताते हैं कि इस 'रामनाम-संकीर्तन' का 'उत्तर-काण्ड' उन्होंने पहली बार मठ में आने के बाद ही सुना।[२२]

अर्थ और तात्पर्य

महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्रों में कहते हैं कि मंत्र की आवृत्ति के साथ उसके अर्थ का भी चिन्तन करना चाहिये। 'राम-नाम-संकीर्तन' के अर्थ को समझने के पूर्व सर्वत्र लोकप्रिय 'संकीर्तन' का अर्थ भी जान लेना उचित होगा। शताब्दियों से हम गाते और सुनते आये हैं – **हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे; हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हरे हरे**॥ यह संकीर्तन संस्कृत में है और इसमें 'सम्बोधन' की विभक्ति लगी है, अत: इसका अर्थ हुआ – "हे हरि राम, हे हरि कृष्ण, हे हरि, हे हरि।" इस 'राम-नाम-संकीर्तन' को 'नाम-रामायणम्' भी कहा गया है, क्योंकि इसे गाकर श्रीराम के गुणों पर आधारित उनके नामों का कीर्तन किया जाता है। पर इसका एक दूसरा तात्पर्य भी है। इसके हर वाक्य में 'राम' शब्द 'सम्बोधन' विभक्ति के रूप में लिया गया है – यथा प्रथम वाक्य का अर्थ हुआ – "हे शुद्ध ब्रह्म तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ श्रीराम !!" इस प्रकार वस्तुत: हर संस्कृत वाक्य के द्वारा हम भगवान श्रीराम का नाम लेकर उन्हें पुकारते हैं।

२२. Vedanta Kesari, Vol. 84, December 1997, pp. 514-16

संकीर्तन का वर्तमान रूप

रामकृष्ण संघ के केन्द्रों में प्रचलित श्रीरामनाम-संकीर्तन का वर्तमान रूप इस प्रकार है –

ॐ श्रीसीता-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न-हनुमत्-समेत-
श्रीरामचन्द्रपरब्रह्मणे नमः ।

– ॐ श्रीसीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान के साथ परब्रह्म श्रीरामचन्द्र को मेरा प्रणाम है।

(बालकाण्डम्)

१. शुद्ध-ब्रह्म-परात्पर राम ।।
– हे शुद्ध ब्रह्म, (तीनों लोकों में) सर्वश्रेष्ठ श्रीराम !!

२. कालात्मक-परमेश्वर राम ।।
– हे काल के रूप में सब पर शासन करनेवाले श्रीराम !!

३. शेष-तल्प-सुख-निद्रित राम ।।
– हे शेषनाग-रूपी शय्या पर सुखपूर्वक सोनेवाले श्रीराम !!

४. ब्रह्माद्यमर-प्रार्थित राम ।।
– हे ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जानेवाले श्रीराम !!

५. चण्ड-किरण-कुल-मण्डन राम ।।
– हे सूर्यवंश को विभूषित करनेवाले श्रीराम !!

६. श्रीमद्दशरथ-नन्दन राम ।।
– हे महाराजा दशरथ के पुत्ररूप में जन्म लेनेवाले श्रीराम !!

७. कौशल्या-सुखवर्धन राम ।।
– हे माता कौशल्या के सुख में वृद्धि करनेवाले श्रीराम !!

८. विश्वामित्र-प्रियधन राम ।।
– हे महर्षि विश्वामित्र के परमप्रिय धन-स्वरूप श्रीराम !!

९. घोर-ताटका-घातक राम ।।
– हे भयंकर राक्षसी ताड़का का वध करनेवाले श्रीराम !!

१०. मारीचादि-निपातक राम ।।
– हे मारीच आदि राक्षसों के मार गिरानेवाले श्रीराम !!

११. कौशिक-मख-संरक्षक राम ।।
– हे महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करनेवाले श्रीराम !!

१२. श्रीमदहल्योद्धारक राम ।।
– हे श्रीमती अहल्या का उद्धार करनेवाले श्रीराम !!

१३. गौतम-मुनि-सम्पूजित राम ।।
– हे गौतम मुनि द्वारा सम्यक् रूप से पूजित होनेवाले श्रीराम !!

१४. सुर-मुनिवर-गण-संस्तुत राम ।।
– हे देवताओं तथा मुनिवरों द्वारा स्तुति किये गये श्रीराम !!

१५. नाविक-धावित-मृदु-पद राम ।।

– हे केवट द्वारा धोये गये कोमल चरणों वाले श्रीराम !!

१६. मिथिला-पुरजन-मोहक राम ।।

– हे मिथिला के नागरिकों को सम्मोहित कर लेनेवाले श्रीराम !!

१७. विदेह-मानस-रञ्जक राम ।।

– हे राजा जनक के हृदय को आनन्दित करनेवाले श्रीराम !!

१८. त्र्यम्बक-कार्मुक-भञ्जक राम ।।

– हे तीन नेत्रोंवाले महादेव के धनुष को तोड़नेवाले श्रीराम !!

१९. सीतार्पितवरमालिक राम ।।

– हे सीताजी द्वारा अर्पित वरमाला के धारणकर्ता श्रीराम !!

२०. कृतवैवाहिककौतुक राम ।।

– हे विवाह रूपी लीला करनेवाले श्रीराम !!

२१. भार्गवदर्पविनाशक राम ।।

– हे भृगुवंशी परशुराम का गर्व का नाश करनेवाले श्रीराम !!

२२. श्रीमदयोध्यापालक राम ।।

– हे श्रीसम्पन्न अयोध्या राज्य का पालन करनेवाले श्रीराम !!

(अयोध्याकाण्डम्)

२३. अगणित-गुणगण-भूषित राम ।।

– हे असंख्य गुणों के द्वारा विभूषित श्रीराम !!

२४. अवनी-तनया-कामित राम ।।

– हे पृथ्वीपुत्री सीताजी के प्रीतिभाजन श्रीराम !!

२५. राका-चन्द्रसमानन राम ।।

– हे पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुखश्री वाले श्रीराम !!

२६. पितृ-वाक्याश्रित-कानन राम ।।

– हे पिता की आज्ञा सुनकर वन में जानेवाले श्रीराम !!

२७. प्रिय-गुह-विनिवेदित-पद राम ।।

– हे अपने प्रिय भक्त केवट को चरण सौपनेवाले श्रीराम !!

२८. तत्क्षालितनिजमृदुपद राम ।।

– हे केवट से अपने कोमल चरणों को धुलवानेवाले श्रीराम !!

२९. भरद्वाज-मुख-नन्दक राम ।।

– हे भरद्वाज आदि मुनियों को आनन्द देनेवाले श्रीराम !!

३०. चित्रकूटाद्रि-निकेतन राम ।।

– हे चित्रकूट पर्वत को अपना निवास बनानेवाले श्रीराम !!

३१. दशरथ-सन्तत-चिन्तित राम ।।

– हे राजा दशरथ द्वारा निरन्तर स्मरण किये जानेवाले श्रीराम !!

३२. कैकेयीतनयार्थित राम ।।

– हे कैकेयीनन्दन भरतजी द्वारा (लौटने की) प्रार्थना किये जानेवाले श्रीराम !!

३३. विरचित-निज-पितृकर्मक राम ।।

– हे अपने पिता के लिये श्राद्ध-कर्म सम्पन्न करनेवाले श्रीराम !!

३४. भरतार्पित-निज-पादुक राम ।।

– हे भरतजी को अपनी पादुकाएँ प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

(अरण्यकाण्डम्)

३५. दण्डक-वन-जन-पावन राम ।।

– हे दण्डकारण्य के निवासियों को पवित्र करनेवाले श्रीराम !!

३६. दुष्ट-विराध-विनाशन राम ।।

– हे विराध नामक दुष्ट राक्षस का विनाश वाले श्रीराम !!

३७. शरभङ्ग-सुतीक्ष्णार्चित राम ।।

–हे शरभंग, सुतीक्ष्ण मुनियों द्वारा पूजित होनेवाले श्रीराम !!

३८. अगस्त्यनुग्रह-वर्धित राम ।।

– हे महर्षि अगस्त्य की कृपा से उत्कर्ष पानेवाले श्रीराम !!

३९. गृध्राधिप-संसेवित राम ।।

– हे गिद्धराज जटायु की सेवा ग्रहण करनेवाले श्रीराम !!

४०. पञ्चवटी-तट-सुस्थित राम ।।

– हे पंचवटी अंचल में सुखपूर्वक निवास करनेवाले श्रीराम !!

४१. शूर्पणखार्ति-विधायक राम ।।

– हे शूर्पणखा को (अंगभंग का) दण्ड देनेवाले श्रीराम !!

४२. खर-दूषण-मुख-सूदक राम ।।

– हे खर, दूषण आदि राक्षसों का नाश करनेवाले श्रीराम !!

४३. सीता-प्रिय-हरिणानुग राम ।।

– हे सीताजी द्वारा आकांक्षित हिरण के पीछे जानेवाले श्रीराम !!

४४. मारीचार्ति-कृदाशुग राम ।।

– हे अपने बाण से मारीच का दु:खनाश करनेवाले श्रीराम !!

४५. विनष्ट-सीतान्वेषक राम ।।

– हे खोई हुई सीताजी की खोज करनेवाले श्रीराम !!

४६. गृध्राधिप-गति-दायक राम ।।

– हे गिद्धराज जटायु को सद्गति प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

४७. शबरी-दत्त-फलाशन राम ।।

– हे शबरी द्वारा दिये गये फलों का आहार करनेवाले श्रीराम !!

४८. कबन्ध-बाहुच्छेदन राम ।।

– हे कबन्ध राक्षस की भुजाओं को काटनेवाले श्रीराम !!

(किष्किन्धाकाण्डम्)

४९. हनुमत्सेवित-निज-पद राम ।।

– हे हनुमानजी द्वारा सेवित चरणोंवाले श्रीराम !!

५०. नत-सुग्रीवाभीष्टद राम ।।

– हे शरणागत सुग्रीव को उसका अभीष्ट – राज्य आदि प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

५१. गर्वित-वालि-संहारक राम ।।

– हे अहंकारी बालि का वध करनेवाले श्रीराम !!

५२. वानर-दूत-प्रेषक राम ।।

– हे बन्दरों को दूत बनाकर भेजनेवाले श्रीराम !!

५३. हितकर-लक्ष्मण-संयुत राम ।।

– हे हितकारी लक्ष्मण को सदा साथ रखनेवाले श्रीराम !!

(सुन्दरकाण्डम्)

५४. कपिवर-सन्तत-संस्मृत राम ।।

– हे वानरश्रेष्ठ हनुमानजी द्वारा निरन्तर स्मरण किये जानेवाले श्रीराम !!

५५. तद्गति-विघ्न-ध्वंसक राम ।।

– हे उनके मार्ग की सारी बाधाओं को दूर करनेवाले श्रीराम !!

५६. सीता-प्राणाधारक राम ।।

– हे (लंका में) सीताजी के प्राणों के आधार-रूप श्रीराम !!

५७. दुष्ट-दशानन-दूषित राम ।।

– हे दुष्ट रावण द्वारा निन्दा किये जानेवाले श्रीराम !!

५८. शिष्ट-हनूमद्भूषित राम ।।

– हे शिष्ट हनुमानजी द्वारा प्रशंसा किये जानेवाले श्रीराम !!

५९. सीतावेदित-काकावन राम ।।

– हे (श्रीहनुमान के मुख से) सीता द्वारा कथित कौए (इन्द्रपुत्र जयन्त) की घटना की याद दिलाये जानेवाले श्रीराम !!

६०. कृत-चूडामणि-दर्शन राम ।।

– हे सीताजी द्वारा प्रेषित चूड़ामणि को देखनेवाले श्रीराम !!

६१. कपिवर-वचनाश्वासित राम ।।

– हे कपिश्रेष्ठ हनुमानजी की वाणी से आश्वस्त होनेवाले श्रीराम !!

(युद्धकाण्डम्)

६२. रावण-निधन-प्रस्थित राम ।।

– हे रावण का वध करने हेतु प्रस्थान करनेवाले श्रीराम !!

६३. वानर-सैन्य-समावृत राम ।।

– हे वानरों की सेना द्वारा भलीभाँति परिवेष्ठित श्रीराम !!

६४. शोषित-सरिदीशार्थित राम ।।

– हे समुद्र को सुखाने के लिये तैयार होने पर, उसके द्वारा प्रार्थना किया जानेवाले श्रीराम !!

६५. विभीषणाभय-दायक राम ।।

– हे विभीषण को 'अभय' प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

६६. पर्वत-सेतु-निबन्धक राम ।।

– हे पर्वतों की शिलाओं से समुद्र पर सेतु बनानेवाले श्रीराम !!

६७. कुम्भकर्ण-शिरश्छेदक राम ।।

– हे कुम्भकर्ण के सिर को काटनेवाले श्रीराम !!

६८. राक्षस-सङ्घ-विमर्दक राम ।।

– हे राक्षसों के संगठन का विनाश करनेवाले श्रीराम !!

६९. अहि-महि-रावण-चारण राम ।।

– हे अहिरावण तथा महिरावण द्वारा (पाताल) ले जाये जानेवाले श्रीराम !! (अथवा – जिनका अहिरावण तथा महिरावण गायकों के रूप में भेद लेने आये थे।)

७०. संहृत-दशमुख-रावण राम ।।

– हे दसमुख रावण का वध करनेवाले श्रीराम !!

७१. विधि-भव-मुख-सुर-संस्तुत राम ।।

– हे ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवताओं द्वारा स्तुति किये जानेवाले श्रीराम !!

७२. ख-स्थित-दशरथ-वीक्षित राम ।।

– हे महाराजा दशरथ द्वारा आकाश में स्थित होकर दर्शन किया जानेवाले श्रीराम !!

७३. सीता-दर्शन-मोदित राम ।।

– हे सीताजी का दर्शन करके आनन्दित होनेवाले श्रीराम !!

७४. अभिषिक्त-विभीषण-नत राम ।।

– हे राज्याभिषेक होने के बाद भी विभीषण द्वारा अधीनता स्वीकार किये जानेवाले श्रीराम !!

७५. पुष्पक-यानारोहण राम ।।

– हे पुष्पक विमान में चढ़कर यात्रा करनेवाले श्रीराम !!

७६. भरद्वाजाभिनिषेवण राम ।।

– हे भरद्वाज मुनि द्वारा पूजित हुए श्रीराम !!

७७. भरत-प्राण-प्रिय-कर राम ।।

– हे (यथासमय अयोध्या लौटकर) भरतजी के प्राणों की आकांक्षा पूरी करनेवाले श्रीराम !!

७८. साकेत-पुरी-भूषण राम ।।

– हे अयोध्यापुरी के आभूषण-स्वरूप श्रीराम !!

७९. सकल-स्वीय-समानत राम ।।

– हे अपनी समस्त प्रजा द्वारा सम्मानित होनेवाले श्रीराम !!

८०. रत्न-लसत्-पीठास्थित राम ।।

– हे रत्नजड़ित सुन्दर सिंहासन पर आसीन होनेवाले श्रीराम !!

८१. पट्टाभिषेकालङ्कृत राम ।।

– हे राज्याभिषेक के समय सुन्दर वस्त्र आदि से अलंकृत होनेवाले श्रीराम !!

८२. पार्थिव-कुल-सम्मानित राम ।।

– हे समस्त राजाओं द्वारा सम्मानित होनेवाले श्रीराम !!

८३. विभीषणार्पित-रङ्गक राम ।।

– हे विभीषण द्वारा अनेक प्रकार के उपहार प्राप्त करनेवाले श्रीराम !! (या विभीषण का राज्य प्रदान करनेवाले श्रीराम !!)

८४. कीश-कुलानुग्रह-कर राम ।।

– हे वानरों के समूह पर कृपा करनेवाले श्रीराम !!

८५. सकल-जीव-संरक्षक राम ।।

– हे सभी जीवों को संरक्षण प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

८६. समस्त-लोकाधारक राम ।।
– हे समस्त लोगों के आधार-स्वरूप श्रीराम !!

(उत्तरकाण्डम्)

८७. आगत-मुनिगण-संस्तुत राम ।।
– हे पधारे हुए समस्त मुनियों द्वारा स्तुति किये गये श्रीराम !!

८८. विश्रुत-दशकण्ठोद्भव राम ।।
– उन (मुनियों के मुख) से रावण के जन्म की कथा सुनने वाले हे श्रीराम !!

८९. सीतालिङ्गन-निर्वृत राम ।।
– हे सीताजी के साथ पुन: मिलकर निवास करनेवाले श्रीराम !!

९०. नीति-सुरक्षित-जनपद राम ।।
– हे शासन के नियमों के अनुसार न्यायपूर्वक राज्य को परिचालित करनेवाले श्रीराम !!

९१. विपिन-त्याजित-जनकज राम ।।
– हे (श्रीलक्ष्मण द्वारा) सीताजी को वन में निर्वासित करने वाले श्रीराम !!

९२. कारित-लवणासुर-वध राम ।।
– हे (शत्रुघ्नजी द्वारा) लवणासुर का वध करानेवाले श्रीराम !!

९३. स्वर्गत-शम्बुक-संस्तुत राम ।।
– हे स्वर्ग जा रहे (तपस्वी) शम्बुक द्वारा स्तुति किये जाने वाले श्रीराम !!

९४. स्वतनय-कुश-लव-नन्दित राम ।।
– अपने पुत्रों – कुश तथा लव को देखकर आनन्दित होनेवाले हे श्रीराम !!

९५. अश्वमेध-क्रतु-दीक्षित राम ।।
– हे अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न करनेवाले श्रीराम !!

९६. कालावेदित-सुरपद राम ।।
– हे 'काल' के द्वारा अपने दिव्य धाम की याद दिलाये जानेवाले श्रीराम !!

९७. आयोध्यक-जन-मुक्तिद राम ।।
– हे अयोध्या के समस्त लोगों को मुक्ति देनेवाले श्रीराम !!

९८. विधि-मुख-विबुधानन्दक राम ।।
– हे ब्रह्मा आदि देवताओं को आनन्द प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

९९. तेजोमय-निज-रूपक राम ।।
– अपना ज्योतिर्मय स्वरूप धारण करनेवाले श्रीराम !!

१००. संसृति-बन्ध-विमोचक राम ।।
– हे जीवों को आवागमन के चक्र से मुक्त करनेवाले श्रीराम !!

१०१. धर्म-स्थापन-तत्पर राम ।।
– हे धर्म की स्थापना में सर्वदा तत्पर रहनेवाले श्रीराम !!

१०२. भक्ति-परायण-मुक्तिद राम ।।
– हे अपने भक्तों को मुक्ति प्रदान करनेवाले श्रीराम !!

१०३. सर्व-चराचर-पालक राम ।।
– हे समस्त चर तथा अचर जीवों का पालन करने वाले श्रीराम !!

१०४. सर्व-भवामय-वारक राम ।।
– हे समस्त भव-रोगों को दूर करनेवाले श्रीराम !!

१०५. वैकुण्ठालय-संस्थित राम ।।
– वैकुण्ठ-धाम में निवास करनेवाले श्रीराम !!

१०६. नित्यानन्द-पद-स्थित राम ।।
– हे अपने नित्य-आनन्द-स्वरूप में विराज करनेवाले श्रीराम !!

१०७. राम राम जय राजा राम ।।
– श्रीराम की जय हो, श्रीराम की जय हो, राजा राम की जय हो !!

१०८. राम राम जय सीता राम ।।
– श्रीराम की जय हो, श्रीराम की जय हो, श्री सीताराम की जय हो !!

(इति अष्टोत्तर-शत-नाम-रामायणं समाप्तम्)
– इस प्रकार एक सौ आठ नामों का रामायण समाप्त हुआ।

संकीर्तन के प्रारम्भ तथा अन्त में श्लोकों का संयोजन

महाराज स्वामी ब्रह्मानन्दजी की जीवनियों में लिखा है – 'रामनाम-संकीर्तन' गोस्वामी तुलसीदास रचित स्तोत्र आदि से युक्त होकर १९१० ई. में बेलूड़ मठ से एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ और बिना-मूल्य वितरित होने लगा।[२३] स्वामी निर्वाणानन्दजी बताते हैं, "१०८ रामनाम के आगे तथा पहले जो श्लोक हैं, वे 'महाराज' के निर्देशानुसार हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) द्वारा जोड़े गये थे।"[२४]

रामनाम-संकीर्तन के वर्तमान संस्करणों में हम देखते हैं कि 'नाम-रामायण' के पूर्व उसमें 'स्तव:' (स्तुति-वन्दना) शीर्षक के साथ १+१८= कुल १९ श्लोक और अन्त में 'प्रणाम' शीर्षक सह ९ श्लोक जुड़े हुए हैं। आगे हम इन्हीं २८ श्लोकों के भावार्थ तथा मूल स्रोतों पर चर्चा करेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

२३. स्वामी ब्रह्मानन्द (बँगला) उद्बोधन, कोलकाता, तृ.सं., पृ. ३१६ तथा स्वामी ब्रह्मानन्द चरित (हिन्दी), स्वामी प्रभानन्द, पृ. २८३

२४. स्वामी तुरीयानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी चेतनानन्द, पृ.२६१; Swami Brahmananda as we saw him, Ed. Swami Atmashraddhananda, Year 2010, p. 193

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

ललित बाबू के घर पर निमंत्रण खाने गया था। मेरा और माँ के जिस सम्बन्धी का निमंत्रण था, वह कोई ऐसा-वैसा व्यक्ति नहीं – राधू का पति मन्मथ था। उस समय ललित बाबू के घर पर नहीं थे। ललित की पत्नी बड़ी पर्दानशीन थीं। गृहस्वामी के घर पर नहीं रहने से कौन जवाब देगा? नौकरानी काम करके चली गयी है। बाद में पता चला कि ललित बाबू तब हम लोगों के लिये दुकान से दही-मिठाई लाने गये हुए थे। दो-चार बार आवाज लगाने और मुख्य द्वारा का कुण्डा हिलाने पर जब गृहस्वामी का उत्तर नहीं मिला, तब मेरे साथी को गुस्सा आ गया। जमींदार पुत्र की बात ठहरी ! उस पर माँ के दामाद ठहरे। मैं कई बार बोला, 'थोड़ा और ठहर जाइए ! ललित दादा शायद कहीं पास ही बाजार गये हों,'' लेकिन कौन सुनता है? मेरा हाथ पकड़कर खींचते हुए बोले, ''ललित दा ने बड़ा अनुचित किया है, घर छोड़ कर बाहर चले गये – हम लोग उनके निमंत्रित अतिथि हैं।'' हम उद्बोधन लौट आये। इधर देर हो चुकी थी और न स्वयं उन्होंने खाया, न मुझे खाने दिया।

उधर ललित दादा लौटकर घर आये, तो सुना कि हम द्वार से ही पुकार कर लौट गये। वे भागते हुए उद्बोधन आये और सीधे सुप्रीम कोर्ट में पहुँचे। माँ से बोले, ''माँ ! तुम दोनों को जरा ठीक से डाँटो तो ! कैसे लड़के हैं ! मैं दुकान से मिठाई लाने गया था और तुम अपनी बहू को तो जानती हो, किसी के सामने बाहर नहीं निकलती। थोड़ी प्रतीक्षा कर लेते। मैं तो तुरन्त लौट आया था।'' गर्मी के दिन थे। भयंकर धूप थी। वे बोलते-बोलते रोने लगे। मेरे चले आने से ज्यादा दुख उन्हें मेरे संगी के चले आने का था, क्योंकि वे गुरुवंश के जमाई थे। माँ ललित को सांत्वना देकर घर भेजते हुए बोलीं, ''उन्हें फिर से अभी भेजती हूँ। वे खाकर आयेंगे। बेटा, तुम निश्चिन्त होकर जाओ। अहा, बच्चे ने व्यर्थ ही खाने को बुलाकर झंझट मोल ले लिया।''

उसके बाद ही तुरन्त मेरी पुकार हुई। उन्होंने मन्मथ से कुछ नहीं कहा, पर मानो पुत्री को डाँटकर बहू को समझाया। मैंने जीवन में यही एक बार माँ से डाँट खायी है। अब समझ पाता हूँ कि इससे मेरा महा-कल्याण हो गया। शक्तिमयी आद्याशक्ति माँ ने इस डाँट के माध्यम से मेरे चारित्रिक गठन में कठिन धारा के विरुद्ध तैरने की शक्ति प्रदान कर दिया। तब मैं भला उनकी दया को क्या समझता? पूजाघर या उनके अपने कमरे के रास्ते की तरफ के बरामदे में मुझे अलग से बुलाकर खूब डाँटा, ''लिख-पढ़कर क्या तुमने यही सीखा है? कॉलेज में पढ़ते हो – तो भी तुम्हारी ऐसी बुद्धि ! ललित के लौटने तक तुम बलपूर्वक थोड़ी देर प्रतीक्षा नहीं कर सके? तुम्हें जल्दी क्या थी – आज छुट्टी का दिन (रविवार) है; और वह (मन्मथ) तो निपट मूर्ख, गँवार ठहरा। उससे तो कुछ कहना ही बेकार है।'' मैं माँ के सामने लज्जा से नतमस्तक हो गया ! भक्त-वत्सल माँ की चारों ओर समान दृष्टि थी। उनमें जीवन में अकल्पनीय सन्तुलन था।

फिर तटस्थ शरत् महाराज को आदेश हुआ, ''बेटा, तुम स्वयं इन दोनों लोगों को लेकर अभी ललित के घर जाओ और भोजन करके उसे शान्त कर आओ।'' क्षुब्ध 'ललित' को चक्रवृद्धि सूद सहित मूल को भी पूरी तरह चुकाकर सन्तुष्ट करने का आयोजन था ! उनकी आज्ञा होते ही निरभिमान शरत् महाराज ने वैसा ही किया। सचमुच ही माता-पुत्र का वह एक अपूर्व दिव्य सम्बन्ध था।

शरत् महाराज ने भी मजा किया। जामाता मन्मथ को सामने रखकर मुझे ही डाँट पिलायी। गीता की बातें सुनायी। सारी गलत प्रवृत्तियाँ संग के दोष से उत्पन्न होती हैं। उसी से क्रोध और मोह का उद्भव होता है। तत्पश्चात् एक-एक सीढ़ी पतन होता जाता है। फिर स्मृति में विभ्रम पैदा होता है, उससे बुद्धिनाश होता है और अन्ततः 'प्रणश्यति' विनाश हो जाता है। मुख बन्द रखकर ललित दादा से क्षमा माँगकर निमंत्रण खाकर माँ के घर लौटना हुआ। मेरे साथी (मन्मथ) आयु में मुझसे बड़े थे। अन्त में ललित आह्लाद से विह्वल होकर बोल उठे, ''मैं क्या ऐसा-वैसा भक्त हूँ ! मेरे साथ चालाकी करने चले थे ! माँ ने मेरा हाथ पकड़ रखा है।'' ललित माँ को हमेशा 'तुम' कहा करते थे।

माँ के नाम पर ललित बाबू ने असम्भव को सम्भव किया है। मेरा जीवन इसका एक दृष्टान्त है। १९१६ ई. में पूजा

की छुट्टी के पहले हिन्दू स्कूल के हेडमास्टर श्रीयुत रसमय बाबू ने मुझे अपने कमरे में बुलाकर कहा, "तुम लोगों को कितनी बार चेताया गया है कि यदि आयु भूल लिख गयी हो, तो उसे तत्काल प्रमाण के साथ अर्जी देकर शुद्ध करा लो। अब परीक्षा सिर पर है। स्कूल कमेटी ने जो नाम भेजे हैं, उसमें तेरी आयु भी कम है। इस बार मैट्रिक की परीक्षा नहीं दे सकेगा।" सुनते ही मैं तो जोरों की रुलाई आ गयी। मेरा तो सर्वनाश हो गया! मैं अनाथ बालक था, एक संन्यासी संरक्षक थे, बिना-फीस पढ़ता था और माँ के घर रहता था। अब कौन मेरी सहायता करेगा? ललित दादा से बोला, "ओ ललित दादा, कोई उपाय है क्या?" ललित बाबू ने सुबह माँ को प्रणाम करने के बाद कहा, "माँ, इसे अच्छी तरह आशीर्वाद दो तो। इस बार परीक्षा न दे पाने पर इसका पढ़ना-लिखना सब बन्द! माँ ने तत्काल मेरे सिर, ठुड्डी तथा पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा – "अवश्य होगा। ललित तुम चेष्टा करो।" और कर भी कौन पाता! उनके मामा, गिरीश मुखर्जी विश्वविद्यालय के सहकारी रजिस्ट्रार थे। वे अच्छे डीलडौल, बुद्धिमान तथा उन्नत-संयत चरित्र के व्यक्ति थे। शरत् महाराज से पत्र लिया गया। उसमें स्पष्ट लिखा था, "लड़का आगामी मार्च में सोलह वर्ष कुछ महीने का होगा। इसकी सत्यता का मैं साक्षी हूँ।" पत्र का एक अन्य वाक्य अब भी याद है, "We remember your saintly father who used to visit to the master." (श्रीरामकृष्ण के पास आनेवाले आपके साधु-स्वभाव पिता – ईशान मुखर्जी की खूब याद आती है।) ईशान बाबू का हृदय इतना विशाल था कि वे ऋण लेकर भी दान करते थे। इसलिए स्वामीजी कहते, "एक दृष्टि से ईशान बाबू विद्यासागर से भी बड़े दानी हैं।" अस्तु, गिरीश बाबू तुरन्त मुझे आचार्य देवप्रसाद के पास ले गये। पतला चेहरा देखकर देवप्रसाद बाबू ने कहा – "Mr. Mukherjee, the boy hardly looks like 16." (लड़का १६ साल का तो नहीं लगता।) किन्तु उस लड़के के वकील थे श्रीमाँ और शरत् महाराज। गिरीश बाबू और ललित बाबू दोनों ने एक स्वर में कहा, "निश्चित रूप से १६ का है।" इसके साथ ही ललित बाबू की बात स्वीकृत हो गयी। वे मानो आह्लाद के पंखों पर उड़कर आये और श्रीमाँ तथा शरत् महाराज को सब बताया। इसके फलस्वरूप मुझे उसी वर्ष परीक्षा देने का अवसर मिला।

इसी प्रसंग में माँ के एक अन्य वीरभक्त डॉक्टर कांजीलाल की बात भी याद आती है। बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनकी भी माँ के सामने खूब चलती थी। बड़े सुन्दर ढंग से बोलते, "माँ की कृपा से, महाराज की कृपा से नया आदमी बनूँगा। माँ के पास आकर मैंने यही समझा है कि पहले के सारे दुष्कर्मों को झाड़कर फेंक देना होगा। देख लेना मैं जर्जर बूढ़ा होकर पोपले मुख से हुक्का गुड़गुड़ाते हुए नानी-नातिनियों के पास केवल अपनी बड़ाई नहीं कर सकता, 'मैंने माँ को देखा है, राखाल महाराज को देखा है।' माँ की कृपा से मैं शक्ति रहते-रहते ही चला जाऊँगा।" सारे दिन डॉक्टरी के कठोर श्रम के बाद प्रायः सारी रात वे माँ की पूजा में बिताते। माँ के प्रति उनका अटल विश्वास था। हुआ भी ठीक वैसा ही। तीन-चार दिन बुखार के बाद वे सहसा चले गये।

आज के इस छल-कपट तथा दिखावे के युग में, यह सोचकर चकित रह जाना पड़ता है कि देवी सारदा रूप में – कैसी असीम पवित्रता और सरलता देह धारण करके हमें पथ दिखाकर हम लोगों का उद्धार करने आयी थीं! एक दिन सुबह मेरे प्रणाम करने के बाद माँ ने कहा, "राधू से पूछ कर आओ कि क्या खायेगी? आलमारी में उस थैली में फुटकर पैसे हैं, लेकर खरीद लाओ।" पकौड़ियाँ और चमचम तथा पन्तुआ नामक मिठाइयाँ लानी थीं। कुल कीमत पाँच आने होती थी। मैं बोला, "मैं क्यों लूंगा? माँ, आप स्वयं थैली से निकालकर गिनकर दे दीजिए।" देखा है कि वे किसी को रुपये देने से पहले उसे अपने ललाट से स्पर्श करके देतीं। माँ ने मधुर हास्य के साथ कहा, "नहीं बेटा, तुम्हीं ले लो।" फिर भी मेरी वही जिद – आप ही दीजिए। उन्होंने बिना गिने एक मुट्ठी उठाकर दे दिया। वह ठीक साढ़े पाँच आना ही निकला! मुझे विचित्र लगा। बाद में योगीन-माँ से सुना, "लगता है तू नहीं जानता – माँ गिन नहीं सकतीं।"

योगीन-माँ के प्रति श्रीमाँ का प्रगाढ़ स्नेह तथा सम्मान का भाव था। (सम्भवतः १९१६ ई. में) एक दिन शाम को वे हमेशा के समान अपने पितृगृह से माँ के पास आयीं। पूजागृह के बरामदे में माँ इधर-उधर की बात बोलने के बाद बोलीं, "अच्छा योगीन, आज सुबह मैंने कितने ही बच्चे-बच्चियों को मंत्र दिया।... यह यह मंत्र दिया। ठीक हुआ या नहीं, तुम्हारे बताने से मेरा मन ठण्डा होगा।" योगीन-माँ ने बड़ी एकाग्रता से मंत्रों को सुनकर कहा, "माँ! मैं एक अभागी स्त्री हूँ और तुम मुझसे पूछ रही हो? तुम एकदम बच्ची के समान सरल हो। तुम्हारे मुख से जो भी वाक्य निकलेगा, वह वेदवाक्य होगा? उसमें क्या कोई भूल-चूक होने की सम्भावना है? कदापि नहीं।" बाद में योगीन-माँ शरत् महाराज बोलीं, "माँ की यह बात सुनकर मैं तो अवाक् रह गयी। माँ ने मुझे इतना बड़ा मान लिया!" ❖ **(क्रमशः)** ❖

सीता का आदर्श और माँ सारदा

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(२००४-०५ ई. के दौरान श्रीमाँ सारदा देवी के १५० वें जन्मवर्ष (सार्ध शताब्दी) के अवसर पर सम्पूर्ण देश में वर्ष भर चले कार्यक्रमों का समापन समारोह बेलूड़ मठ में सम्पन्न हुआ, जिसके एक सत्र में प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की अध्यक्ष सुश्री डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा ने एक उद्‌बोधक व्याख्यान दिया था। इसका सी. डी. से अनुलेखन रायपुर के श्रीदुर्गेश तथा सौम्या ताम्रकार ने किया है। - सं)

इस सत्र के सभापति स्वामी मुमुक्षानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मठ के पूज्य संन्यासीवृन्द, सारदा मठ से पधारी हुईं साध्वीवृन्द, देवियो और सज्जनो, आपके चरणों में मेरा प्रणाम और वन्दन ! मेरा विषय आपको बताया गया – माँ सारदा और सीता का आदर्श। यह विषय कुछ विशिष्ट है। अभी तक जितने विषयों पर वक्तृताएँ हुई हैं और जो आगे भी होंगी, वे सारे विषय किसी-न-किसी पक्ष से सम्बद्ध हैं। यही एकमात्र ऐसा विषय है, जिसमें माँ के साथ किसी अन्य बड़े व्यक्तित्व को सम्बद्ध किया गया है। स्पष्ट है कि इसका कोई-न-कोई प्रयोजन तो अवश्य होगा। इस विषय पर अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ निवेदन करती हूँ।

भारतीय मनीषा यह स्वीकार करती है कि जब-जब धर्म की हानि होती है, धर्म का स्वरूप अस्पष्ट होता है, सत्य आँखों से ओझल होने लगता है, तब-तब परमात्मा अवतार ग्रहण करते हैं। अवतार का अर्थ है – अवतरण अर्थात् नीचे उतरना। परमात्मा अपने रूप – सर्वज्ञ अव्यक्त रूप की अपेक्षा एक व्यक्त रूप में अविर्भूत होते हैं, नरलीला करते हैं, मनुष्यों के बीच में रहते हैं; उन्हीं के जैसे दिखते हैं, उन्हीं के जैसा व्यवहार करते हैं और उन्हीं की भाषा बोलते हैं। जिस समय परमात्मा अवतार ग्रहण करते हैं, उस समय उनके साथ उनकी जो प्रकृति अर्थात् परम शक्ति है, वे भी अवतार ग्रहण करती हैं, क्योंकि शक्ति के बिना शिव – शवमात्र हैं, वे कुछ भी नहीं कर सकते। अनेक युगों में इस प्रकार के अनेक अवतार हुए हैं; और प्रत्येक अवतार के साथ यहाँ तक की प्रत्येक देवता के साथ उसकी शक्ति को मानवीकृत करके उनकी अर्धांगिनी के रूप में उनकी कल्पना की जाती है। हम बहुत सारे अवतारों को जानते हैं। भगवान शिव के साथ शिवानी, भगवान कृष्ण के साथ उनकी कार्य-कारणात्मिका माँ-शक्ति की अवतारभूता रुक्मिणी, उनकी अन्तःशक्ति, ह्लादिनी-शक्ति की अवतारभूता श्रीराधा और श्री रामचन्द्रजी के साथ श्रीसीता। यद्यपि शक्ति एक है, लेकिन विभिन्न युगों में विभिन्न परिस्थितियों में उसकी विभिन्न प्रकार की लीला होती है, विभिन्न प्रकार का चरित्र होता है।

जब हम इन अवतारों पर विचार करते हैं, तो देखते हैं कि श्री सीता का चरित्र एक ऐसा चरित्र है, जिसके साथ श्रीमाँ सारदा देवी के चरित्र का अद्‌भुत साम्य है। ये दोनों चरित्र एक दूसरे के बहुत अधिक निकट हैं और अपने देश-काल के सन्दर्भों के कारण एक-दूसरे से कुछ भिन्न भी हैं।

विशेष किसी भूमिका के बिना ही पहले हम यह देखना चाहेंगे कि दोनों में क्या साम्य है ! क्योंकि श्रीमाँ के साथ हम श्री सीताजी के नित्य-सम्बन्ध का स्पर्श पाते हैं। आप सब जानते हैं कि श्रीमाँ की गया-यात्रा के समय एक उत्तर भारतीय कुली को श्री जानकी जी के रूप में उनके दर्शन हुए थे और माँ ने उन्हें वहीं प्लेटफार्म पर ही दीक्षा दी थी। तो कहीं-न-कहीं कोई सम्बन्ध इन अवतारों में अवश्य है। सबसे पहला जो साम्य हम इन दोनों में देखते हैं, वह यह है कि ये दो ऐसे प्रभावशाली चरित्र हैं, जिन्होंने भारत के लोकमानस को बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित किया है। युगों-युगों से श्रीसीता का चरित्र आदर्श भारतीय नारी के प्रतीक के रूप में पूजित होता रहा है। श्रीराम के साथ अपने जीवन तथा चरित्र के माध्यम से उन्होंने भारतीय मानस की परिकल्पना को सँवारा है। भारतीय मन को प्रभावित करनेवाला दूसरा बड़ा चरित्र श्रीमाँ सारदा देवी का है, जिन्होंने अपने जीवन-काल में और लीला-संवरण के बाद भी कोटि-कोटि मानसों का निर्माण किया है। दोनों के बीच सबसे बड़ा साम्य यह है कि श्रीसीता और श्रीमाँ – दो ऐसी केन्द्रीय व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने इस देश के समाज का, इस देश के व्यक्ति का निर्माण किया है और उसे सकारात्मक रूप से प्रभावित किया है।

जहाँ तक इन दोनों के व्यक्तित्वों का सम्बन्ध है, दोनों में आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि इन दोनों के जीवन में उनके पतियों का विशेष महत्त्व है। जानकीजी के जीवन में महाराज रामचन्द्र और श्रीमाँ के जीवन में श्रीरामकृष्ण – ये केन्द्रीय व्यक्तित्व हैं। जैसा कि आज सुबह के एक सत्र में डॉक्टर लाभ ने बताया था कि श्रीमाँ की ठाकुर के प्रति केवल पतिदृष्टि ही नहीं थी; बहुत सारी दृष्टियाँ थीं – गुरुदृष्टि थी, ईश्वरदृष्टि थी। लेकिन माँ की यह अपनी निजी दृष्टि है। समाज की दृष्टि से ठाकुर उनकी पति हैं और माँ का पूरा व्यक्तित्व, माँ का पूरा जीवन ठाकुर के चारों ओर ही घूमता है, ठाकुर ही केन्द्रीय तत्त्व हैं, वह जीवनदायी तत्त्व हैं, जो माँ के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं और माँ के व्यक्तित्व को उस रूप में निर्मित करते हैं, जिस रूप में हम उन्हें देखते हैं। सीताजी के जीवन में देखें, तो वहाँ भी हम यही देखते हैं कि श्रीसीता का समग्र चरित्र श्रीराम से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जिस प्रकार ठाकुर श्रीमाँ

के जीवन-सर्वस्व हैं, ठीक वैसे ही श्रीराम जानकीजी के जीवन-सर्वस्व हैं। श्रीराम को वनगमन का आदेश होता है। यह आदेश सीताजी के लिए नहीं था, केवल श्रीराम के लिए ही था, लेकिन उस समय अपनी सहधर्मिणी-व्रत का पालन करने के लिए, अपनी प्रीति, अपनी आस्था, अपनी निष्ठा के कारण वे भी श्रीराम के साथ वनगमन करती हैं; और जितनी भी विपत्तियाँ आती है, जितने भी कष्ट मिलते हैं, उन सबको सहन करती हैं। माँ के जीवन में भी ऐसे ही अवसर आते हैं; माँ जब ठाकुर की अस्वस्थता का समाचार पाकर दक्षिणेश्वर पहुँचती हैं, तो ठाकुर को स्वस्थ देखकर प्रसन्न होती हैं।

उन्हीं दिनों एक बार श्रीरामकृष्ण उनसे एकान्त में प्रश्न करते हैं – "क्या तुम मुझे संसार में खिचने आयी हो? स्पष्ट रूप से अपने मन की बात कहना।" बिना एक क्षण भी हिचके श्रीमाँ कहती हैं, "मैं तुम्हें संसार में क्यों खीचूँगी भला! मैं तो तुम्हारे द्वारा चुने हुए मार्ग में तुम्हारी सहायता करने आयी हूँ।" एक सहधर्मिणी के रूप में नारी का आदर्श हो सकता है, इसे हम दोनों के दाम्पत्य जीवन में देखते हैं। वस्तुत: जिसे धर्मपत्नी या सहधर्मिणी कहते हैं, उसका अर्थ है – धर्म के आचरण हेतु जिसका साथ स्वीकार किया जाय। श्री जानकी जी और श्रीमाँ सारदा ने अपने आचरण के द्वारा सहधर्मिणी के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत किया है।

यदि हम वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखें, तो भी हमें दोनों के बीच बहुत समानता मिलती है। जो समस्त गुण हमें सीताजी में दिखाई देते हैं, वे सारे गुण श्रीमाँ के व्यक्तित्व में भी दिखाई पड़ते हैं। इनमें दो तरह के गुण हैं। कुछ गुण ऐसे हैं, जो उनकी रचनात्मक भूमिका को रेखांकित करते हैं। त्याग, तपस्या, वैराग्य, सहिष्णुता, ममता, आस्था – ये सारे गुण समाज को प्रभावित करते हैं। लेकिन इसके साथ ही आप देखेंगे कि इन दोनों चरित्रों में हमें अद्भुत दृढ़ता भी दीख पड़ती है – निर्णय लेने के क्षण में न सीता हिचकिचाती हैं और न माँ सारदा हिचकिचाती हैं। जो निर्णय लेना है, वह ले लिया और अपने द्वारा लिये गये निर्णय पर चलने की सामर्थ्य, वह अचल निष्ठा, वह शक्ति – यह भी हमें दोनों के चरित्र में एक जैसी दिखाई पड़ती है। दोनों ही अत्यन्त स्वाभिमानिनी स्त्रियाँ हैं, दोनों ही अति दृढ़प्रतिज्ञ और अत्यन्त सहनशक्ति वाली हैं। जीवन में इन्होंने कभी पराजय स्वीकार नहीं किया, विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी झुकी नहीं। ऐसी ये दो अद्भुत नारी-चरित्र हैं, जिन्होंने हमारे समाज को प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त यदि हम छोटी-छोटी घटनाएँ देखे, तो हमें बहुत-सी समान घटनाएँ मिल जायेंगी, लेकिन उनके लिए अभी अवकाश नहीं है। इन दोनों चरित्रों में जो मूलभूत एकता है, वह है अपने आचरण के द्वारा समाज को सकारात्मक रूप में अनुप्राणित करने की शक्ति।

अब प्रश्न उठता है कि क्या इनमें कोई भेद भी है? हाँ, भेद भी है। देश और काल की अपेक्षा से दोनों के चरित्र में विशिष्ट अन्तर भी है। पहला अन्तर तो यह है कि चाहे ईश्वर अवतार ले, परमात्मा-प्रकृति अवतार ले, मनुष्य को कुछ सिखाने के लिए उसके लिये मनुष्य होना आवश्यक है। मनुष्य की तरह व्यवहार करना, मनुष्य की तरह आचरण करना आवश्यक है। सीताजी के अवतार-काल को बहुत समय बीत चुका है। भारतीय परम्परा के अनुसार श्रीराम के अवतार को हुए ९ लाख ४५ हजार साल बीत चुके हैं और यदि इस भारतीय परम्परा को आप न भी मानें, तो २ वर्ष पूर्व नासा ने उपग्रह से जो चित्र लिये हैं, जिसमें रामेश्वरम और लंका के बीच एक पुल के अवशेष मिल रहे हैं। उन्होंने उसका समय आँका है – सवा दो लाख से ढाई लाख वर्ष पूर्व। तो ढाई लाख वर्षो का जो श्रीसीता का व्यक्तित्व है, वह भाव-रूप हो गया है, वह संस्कार रूप हो गया है। वह इतना ऐश्वर्य-मण्डित हो चुका है कि उसकी जो मनुजता है, उसकी जो सहजता है, वह दिव्यता के आवरण में छिप चुकी है। इसलिए सीताजी आज भी हमारे समक्ष हमारे लिए जगत्-जननी के रूप में, परमा प्रकृति के रूप में स्थित हैं। लेकिन मनुष्य को सुधारने के लिए जिस उष्मा की जरूरत होती है, जिस सहज संस्पर्श की अपेक्षा होती है, वह काल की गति में अब विलुप्त हो चुका है। अब परमा प्रकृति श्रीमाँ के रूप में एक नया अवतार धारण करके यहाँ आती हैं। जब हम किसी अवतार की चर्चा करते हैं, तो दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है – अलौकिकता और सुलभता अर्थात् उसमें दिव्यता कितनी है और उसमें सहजता कितनी है? यह अलौकिकता जितनी अधिक होगी, उतना ही वह सामान्य व्यक्ति की श्रद्धा का केन्द्र तो बन सकता है, लेकिन आत्मीयता का केन्द्र नहीं बन सकेगा। लेकिन उसमें जितनी अधिक सहजता होगी, जितनी अधिक उपलब्धता होगी, जितना सलभता होगी, उसके साथ ही व्यक्ति का उतना ही अधिक हार्दिक लगाव होगा। जितना अधिक लगाव होगा, उतनी ही अधिक आत्मीयता होगी; और जितनी आत्मीयता होगी, उतना ही अधिक व्यक्ति का शोधन होगा।

इस दृष्टि से माँ सीता की विकासोन्मुख यात्रा है। सीताजी के चरित्र की जो परिणति है, वह हमें श्री सारदा के चरित्र में मिलती है। सबसे बड़ा अन्तर यह है कि श्री सीताजी की जो लीला है, वह उस युग-काल के सन्दर्भ में जैसी अपेक्षित थी, वैसी ही थी। उसमें सहधर्मिणी का स्वरूप तो बड़ा सुन्दर स्पष्ट है। आर्यललना, एक श्रेष्ठ कुलस्त्री का जैसा आचरण होना चाहिए, वह तो बहुत स्पष्ट है।

लेकिन उस रूप में मातृत्व की प्रतिष्ठा उतनी अच्छी तरह नहीं हो सकी, जैसा की श्रीमाँ के चरित्र में दीख पड़ता

है। जानकीजी का मातृत्व – लव तथा कुश तक ही सीमित होकर रह गया। लेकिन माँ सारदा का मातृत्व तो सर्वसाधारण में जन-जन तक पहुँचा है, क्योंकि वे माँ भी हैं और गुरु भी हैं। ये दो विशिष्ट आयाम हैं, जो हमें किसी भी अपने पुराने अवतारों के चरित्र में दिखलाई नहीं देते। एक तो मातृत्व की प्रतिष्ठा और दूसरी गुरुभाव की प्रतिष्ठा।

श्रीरामकृष्ण ने ऐसे ही श्रीमाँ को गुरुभाव की गुरुता का अधिकार नहीं सौप दिया था। इसलिए सौंपा था कि वे माँ तो हैं ही और माँ सहज गुरु होती है। गुरु होने के लिये जिस क्षमा की, जिस सृजनशीलता की, जिस ममता की आवश्यकता होनी चाहिए, वह माता में स्वाभाविक रूप से होने के कारण माता सहज गुरु होती है। माँ में इतनी ममता है, इतनी क्षमता है, इतनी सहनशीलता है कि उससे अच्छा गुरु कोई हो ही नहीं सकता। माँ अपने बच्चे के प्रति सदैव क्षमाशील रहती है, सदैव स्नेहशील रहती है। उसके हृदय में बच्चे की त्रुटियों के लिए, उसकी कमजोरियों के लिए अनन्त अवकाश रहता है। इसीलिए ठाकुर ने तो चुन-चुनकर ही शिष्यों को दीक्षा दी थी, लेकिन माँ के पास जो कोई भी आया, माँ ने कभी पात्र या कुपात्र का विचार नहीं किया। उन्होंने तो सभी को अपनी गोद में स्वीकार कर लिया। यही श्रीमाँ के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। हमें लगता है मानो हम अभी हाथ बढ़ाकर उन्हें छू सकते हैं, हम उनके आगे रो सकते हैं और हम उनकी गोद में सिर रखकर सो भी सकते हैं।

माँ का यह जो इतना सहज, इतना आत्मीय व्यक्तित्व है, यह उसी का चमत्कार है, जिसके कारण हम सब आज यहाँ पर उपस्थित है। इस ममतामयी के विषय में मैं क्या कहूँ?

बस एक ही बात ओर कहूँगी। ठाकुर की अपेक्षा माँ ने जगत् का अधिक कल्याण किया है। उसका कारण सिर्फ यह है कि ठाकुर के पास तो एक मर्यादा-बोध या कुछ सीमायें थीं, जिनका अतिक्रमण नहीं हो सकता था। ठाकुर तो कैलाश के हिम-आच्छादित पर्वत की तरह हैं – अपनी साधना में शान्त, एकाकी, नीरव, आत्मलीन। पर मुझे तो सदा ऐसा लगता है कि माँ उस हिमालय की सारी पवित्रता और शीतलता को लेकर बहनेवाली पुण्यसलिला भागीरथी के समान हैं, जो स्वयं लोगों के पास पहुँचती हैं, लोगों को उनके पास जाने की जरूरत नहीं है। अपनी सहज ममता और सहज वात्सल्य लेकर – सम तथा विषम सभी जगह की परिस्थितियों में अनादि काल से बहती हुई वे स्वयं लोगों के पास पहुँचती हैं। चाहे कोई पुण्यात्मा हो या पापात्मा – दोनों ही उनमें स्नान करके अपने हृदय-पंख का प्रक्षालन कर सकते हैं। माँ समान भाव से सबको मुक्त करती हैं। इसलिए माँ केवल पवित्र नहीं हैं, माँ केवल शुद्ध नहीं है, माँ पावनी भी हैं। यह एक विशिष्ट आयाम है, जिसकी आज हमारे समाज को बहुत आवश्यकता है। आज यह देश जो लक्ष्यभ्रष्ट हो रहा है, जो अपने जीवन मूल्यों को नहीं ढूँढ़ पा रहा है, जो अपनी सनातन परम्पराओं में, अपने सनातन आदर्शों में विश्वास खो रहा है, ऐसे आत्महीन राष्ट्र के कल्याण हेतु यदि हमें किसी अवतार की आवश्यकता है, तो सचमुच ही हमें श्रीमाँ सारदा की आवश्यकता है।

अन्त में मैं यही कहना चाहूँगी कि श्रीसीता या श्रीमाँ की परस्पर तुलना नहीं करनी चाहिए। इनमें से किसी को भी ऊँचा या नीचा नहीं कहा जा सकता। जिस युग की जैसी अपेक्षा होती है, परमा प्रकृति वैसी ही लीला करती हैं। इस बार का श्रीमाँ का अवतार सर्वांग-सम्पूर्ण है। उसमें मनुष्य मात्र के समस्त आयाम अपने समस्त सौन्दर्य समस्त समृद्धि के साथ वर्तमान है। ❑❑❑

अनमोल उपदेश

भगवान का दर्शन तो उन्हीं की कृपा से हो सकता है। किन्तु साधक को निरन्तर जप-ध्यान करते रहना चाहिए। उससे मन का मैल दूर होता है। साधक को पूजा आदि साधनाएँ करते रहना चाहिए। जैसे फूल हिलाने-डुलाने से उसकी महक निकलती है, चन्दन घिसने से सुगन्ध निकलती है, वैसे ही भगवान की चर्चा करते-करते तत्त्वज्ञान का उदय होता है।

मनुष्य का हजार उपकार क्यों न करो, पर अगर जरा सा भी दोष कर दो, तो वह तुरन्त मुँह फेर लेगा। लोग केवल दोष देखते हैं, गुण कितने लोग देखते हैं? गुण देखना चाहिए। ... एक बात कहती हूँ। यदि शान्ति चाहो तो किसी के दोष मत देखो। अपने दोष देखो। संसार को अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है, यह सारी दुनिया तुम्हारी अपनी है।

मेरा पुत्र यदि देह में धूल-मिट्टी लगाता है तो धूल झाड़कर मुझे ही तो उसे गोद में लेना होगा।

– माँ श्री सारदा देवी

नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत 'श्वेताश्वतर' नाम का उपनिषद् आता है, जिसमें मानव-जीवन की समस्या का विचार और समाधान बड़ी ही काव्यमयी भाषा में किया गया है। जीवन में निहित सत्य की अनुभूति करने वाले ऋषि हर्ष से उच्छलित होकर पुकार उठते हैं –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा ।
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः । २/५
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति ।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। ३/८

– "हे अमृत के पुत्रगण ! हे दिव्यधाम-निवासी देवताओ ! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है, जो समस्त अज्ञान अन्धकार और माया से परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के चक्कर से छूट सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ है ही नहीं।"

वेद के इस मंत्र से चार बातें ध्वनित होती हैं। पहली यह कि हम अमृततनय हैं। दूसरी यह कि उस सत्यस्वरूप परम पुरुष की उपलब्धि की जा सकती है। तीसरी यह कि परम पुरुष की उपलब्धि ही मनुष्य को मृत्यु-भय से बचाती है। और चौथी यह कि इसके अलावे कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द इस मंत्र पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं, "हे अमृत के पुत्रगण !' कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह ! बन्धुओ, इसी मधुर नाम से मुझे तुमको पुकारने दो। 'हे अमृत के अधिकारीगण !' सचमुच, हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है। वह मानव स्वभाव पर घोर लांछन है। उठो ! आओ ऐ सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेंड़ हो। तुम तो जरा-मरणरहित, नित्यानन्द आत्मा हो ! तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं। उक्त मंत्र वेदों की मूल बात हमारे समक्ष रखता है। वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है, और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन है; वरन् वे यह घोषित करते है कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु-परमाणु में तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओतप्रोत वही एक पुराण-पुरुष विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्ततः नाचती है।"

मनुष्य तब तक डरता है, जब तक उसे सत्य का पता नहीं रहता। हम मृत्यु से क्यों डरते हैं? – इसलिए कि हमें मृत्यु के सत्य का पता नहीं। पर जब हम मृत्यु के इस सत्य को जान लेते हैं, तब भय खत्म हो जाता है। मृत्यु का यह सत्य क्या है? – पहला तो यह कि मृत्यु अनिवार्य है, ऐसा कोई व्यक्ति या पदार्थ नहीं है, जो उसका ग्रास न बनता हो। और दूसरा यह कि मृत्यु मानो जीवन का नवीनीकरण है। हम जीर्ण देह त्यागकर फिर से नयी देह पाते हैं। पुराने फटे कपड़े को उतारकर नये कपड़े पहनने में भला किसे हर्ष नहीं होता? मृत्यु भी तो नये कपड़े पहनने की ही प्रक्रिया है। मृत्यु के सत्य के ये दो पक्ष हैं। जो मृत्यु के इन दोनों पक्षों को अच्छी तरह से जान लेता है, वह उससे भागता नहीं, अपितु उसका स्वागत करता है।

फिर मृत्यु के सत्य को जाननेवाला वस्तुतः अपने ही सत्य को जान लेता है। वह अनुभव करता है कि उसका स्वरूप मर्त्य नहीं, दिव्य है; वह समस्त अज्ञान-अन्धकार से परे है। अपने इस स्वरूप को न जानने के कारण ही वह अब तक मृत्यु से डरता था, अपने को पापी समझता था। पर अपने स्वरूप का बोध उसे प्रतीति करा देता है कि मृत्यु देह की होती है, वह तो देह और मन से परे वह आत्मतत्त्व है, जो सूर्य से भी प्रभावान है। मृत्युभय केवल आत्मबोध से ही दूर होता है, उसके लिए अन्य कोई रास्ता नहीं।

वेदों का, यह बल तथा प्रकाश का सन्देश हमारी जड़ता को दूर करेगा; हमारे भीतर आत्मबल को बढ़ाएगा। आज के तनावग्रस्त मानव को आत्मबल की आवश्यकता है। आत्मबल हमारे मनोबल को बढ़ाता है। इसीलिए वेद हमें - **आत्मानं विजानीहि** का हमें सन्देश प्रदान करते हैं। वेद कहते हैं कि यह आत्मज्ञान केवल मनुष्यों को सुलभ है, देवताओं को भी नहीं। आत्मज्ञान पाने के लिए देवताओं को भी मनुष्य बनना पड़ता है। तभी तो कहा है – **न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्** –मनुष्य से श्रेष्ठ और कोई योनि नहीं है। ❑❑❑

कठोपनिषद्-भाष्य (१२)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनको जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।। १० (३९)

अन्वयार्थ – शेवधिः कर्मफल **अनित्यम्** अनित्य हैं, **हि** क्योंकि **अध्रुवैः** अनित्य वस्तुओं के द्वारा **तत्** वह **ध्रुवम्** शाश्वत (परमात्म-वस्तु) **न प्राप्यते** नहीं प्राप्त होता, **इति** यह **हि** चूँकि **अहम्** मैं **जानामि** जानता हूँ। **ततः** इसलिये (सब कुछ जाकर भी) **मया** मेरे द्वारा **अनित्यैः** विनाशवान् **द्रव्यैः** (यज्ञसाधन) पशु आदि के द्वारा **नाचिकेतः** नाचिकेत नामक **अग्निः** (स्वर्गसुखप्रद) अग्नि **चितः** चयन करके **नित्यम्** आपेक्षिक नित्यत्व को **प्राप्तवान् अस्मि** प्राप्त हुआ हूँ।

भावार्थ – कर्मफल अनित्य हैं, क्योंकि अनित्य वस्तुओं के द्वारा वह शाश्वत (परमात्म-वस्तु) नहीं प्राप्त होता, यह चूँकि मैं जानता हूँ। इसलिये (सब कुछ जाकर भी) मेरे द्वारा विनाशवान् (यज्ञसाधन) पशु आदि के द्वारा नाचिकेत नामक (स्वर्गसुखप्रद) अग्नि चयन करके (आपेक्षिक, जब तक संसार रहेगा, तब तक के लिये) नित्यत्व को प्राप्त हुआ हूँ।

भाष्यम् – पुनः अपि तुष्ट आह – जानामि अहं शेवधिः निधिः कर्म-फल-लक्षणः निधिः इव प्रार्थ्यते इति । असौ अनित्यम् अनित्य इति जानामि । न हि यस्मात् अनित्यैः अध्रुवैः यत् नित्यं ध्रुवम्, तत् प्राप्यते परमात्मा-आख्यः शेवधिः । यः तु अनित्य-सुखात्मकः शेवधिः, स एव अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्यते ।

भाष्य-अनुवाद – पुन: सन्तुष्ट होकर वे (यमराज) बोले – मैं जानता हूँ कि कर्मफल-रूपी निधि को शेवधि कहते हैं, लोग इसके लिये धन के समान प्रार्थना करते हैं। मैं उसे अनित्य के रूप में जानता हूँ। चूँकि अनित्य वस्तुओं के द्वारा उस नित्य वस्तु – परमात्मा-नामक सम्पदा को नहीं पाया जा सकता। अनित्य वस्तुओं के द्वारा तो अनित्य (क्षणभंगुर) सुखात्मक सम्पदाओं को ही प्राप्त किया जा सकता है।

हि यतः, ततः तस्मात् मया जानता अपि नित्यम् अनित्य-साधनैः प्राप्यते इति नाचिकेतः चितः अग्निः अनित्यैः द्रव्यैः पशु-आदिभिः स्वर्ग-सुख-साधनभूतः अग्निः निर्वर्तित इत्यर्थः । तेन अहम् अधिकार-आपन्नः नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्ग-आख्यं नित्यम् आपेक्षिकं प्राप्तवान् अस्मि ।।१०।।

इसी कारण, यह जानते हुए भी कि अनित्य साधनों के द्वारा नित्य वस्तु नहीं प्राप्त हो सकती, मैंने पशुओं आदि अनित्य साधनों के द्वारा स्वर्गसुख के साधनभूत नाचिकेत अग्नि का चयन किया (अर्थात् नाचिकेत यज्ञ को सम्पन्न किया)। इसके द्वारा अधिकार-सम्पन्न हो जाने से मुझे यमलोक नामक सापेक्ष नित्य स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।।११ (४०)

अन्वयार्थ – नाचिकेतः हे नचिकेता, (जिसमें) **कामस्य** कामनाओं का **आप्तिम्** समाप्ति होती है, (उस) **जगतः** सभी वस्तुओं के **प्रतिष्ठाम्** आश्रय को, **क्रतोः** यज्ञफल के **अनन्त्यम्** हिरण्यगर्भ पद को, **अभयस्य** (आपेक्षिक) अभय की **पारम्** पराकाष्ठा को, **स्तोम-महत्** प्रशंसनीय तथा आणिमादि ऐश्वर्य के द्वारा महिमान्वित **उरुगायम्** विस्तीर्ण, दीर्घकाल तक रहनेवाली **प्रतिष्ठाम्** स्थिति को (तुमने) **धृत्या** धैर्यपूर्वक **दृष्टवा** विचार करके **धीरः** बुद्धिमत्तापूर्वक **अत्यस्राक्षीः** परित्याग किया है।

भावार्थ – हे नचिकेता, (जिसमें) कामनाओं की समाप्ति होती है, (उस) सभी वस्तुओं के आश्रय को, यज्ञफल के हिरण्यगर्भ पद को, (आपेक्षिक) अभय की पराकाष्ठा को, प्रशंसनीय तथा आणिमादि ऐश्वर्य के द्वारा महिमान्वित विस्तीर्ण, काफी काल तक रहनेवाली स्थिति को (तुमने) धैर्यपूर्वक विचार करके बुद्धिमत्तापूर्वक पूर्ण त्याग किया है।

भाष्यम् – त्वं तु कामस्य आप्तिम् समाप्तिम्, अत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्य-आत्म-आधिभूत-आधिदैव-आदेः, प्रतिष्ठाम् आश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः उपासनायाः फलं हैरण्यगर्भं पदम् । अनन्त्यम् आनन्त्यम्, अभयस्य च पारम् परां निष्ठाम् ।

भाष्य-अनुवाद – परन्तु हे धीर नचिकेता, अपने धैर्यगुण के कारण तुमने यह देखकर कि जिस अवस्था में समस्त कामनाओं की परिसमाप्ति होती है; जो सर्वात्मक होने के

कारण अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेवात्मक सम्पूर्ण जगत् का आश्रय है, क्योंकि वही सर्वमय है; वह हिरण्यगर्भ का पद उपासना का फल है। वह अभयता की पराकाष्ठा है।

स्तोमं स्तुत्यं महत् अणिमा-आदि-ऐश्वर्य-आदि-अनेक-गुण-संहतम्, स्तोमं च तत् महत् च निरतिशयत्वात् स्तोम-महत्। उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्। प्रतिष्ठां स्थितिम् आत्मनः अनुत्तमाम् अपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरः नचिकेतः! धीमान् बुद्धिमान् सन् अत्यस्राक्षीः परम् एव आकाङ्क्षन् अतिसृष्टवान् असि सर्वम् एतत् संसार-भोग-जातम्। अहो बत अनुत्तम-गुणः असि ।।११ (४०)।।

वह स्तोम अर्थात् स्तुत्य है, महत् है अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्यों सहित अनेक गुणों से युक्त है, अतः वह स्तोम तथा महत् है और यह सर्वोत्कृष्ट होने के कारण स्तोम-महत् है। ऐसे अति उत्तम परिणाम पर विचार करते हुए, तुमने अनन्त यज्ञों के फलरूप – हिरण्यगर्भ का पद तथा स्थिति को धैर्यपूर्वक देखा; और हे नचिकेता, बुद्धिमान् होने के कारण तुमने परम तत्त्व को पाने की इच्छा से पूर्वोक्त समस्त सांसारिक भोगों का परित्याग कर दिया है। यह बड़े ही आनन्द की बात है कि तुम अति उत्तम गुणों वाले हो ।।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।१२ (४१) ।।

अन्वयार्थ – **तम्** उस **गूढम् अनुप्रविष्टम्** दुर्ज्ञेय रूप से स्थित **गुहा-हितम्** हृदय-गुफा में प्रतिष्ठित तथा अनुभूति करने योग्य, **गह्वरेष्ठम्** वासना आदि अनर्थों से युक्त शरीर में स्थित, (अतः) **दुर्दर्शम्** प्राप्त करने में कष्टसाध्य **पुराणम्** चिर **देवम्** स्वयंप्रकाश आत्मा को **धीरः** सुधी व्यक्ति **अध्यात्म-योग-अधिगमेन** परमात्मा में मनोनिवेश के द्वारा **मत्वा** साक्षात्कार करके **हर्ष-शोकौ** सुख-दुःखों को **जहाति** त्याग देता है।

भावार्थ – उस दुर्ज्ञेय रूप से स्थित हृदय-गुफा में स्थापित तथा अनुभूति योग्य, वासना आदि अनर्थों से युक्त देह में स्थित, (इसलिये) कठिनाई से प्राप्त करने योग्य चिर स्वयंप्रकाश आत्मा को, सुधी व्यक्ति परमात्मा में मनो-निवेश के द्वारा साक्षात्कार करके सुख-दुःखों को त्याग देता है।

भाष्यम् – **यं त्वं ज्ञातुम् इच्छसि आत्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनम् अस्य इति दुर्दर्शः अतिसूक्ष्मत्वात्। गूढं गहनम्, अनुप्रविष्टं प्राकृत-विषय-विज्ञानैः प्रच्छन्नम् इत्येतत्। गुहाहितं गुहाया बुद्धौ हितं निहितं स्थितं तत्र उपलभ्य-मानत्वात्। गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमे अनेक-अनर्थ-संकटे तिष्ठति इति गह्वरेष्ठम्। यतः एवं गूढम् अनुप्रविष्टः गुहाहितः च, अतः असौ गह्वरेष्ठः; अतः दुर्दर्शः।**

भाष्य-अनुवाद – तुम जिस आत्मा को जानने के इच्छुक हो, वह दुर्दर्श अर्थात् बड़ी कठिनाई से दिखनेवाला है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। वह गहन है और अनुप्रविष्ट अर्थात् लौकिक विषयों के ज्ञान से आच्छादित है। वह बुद्धि रूपी गुहा में स्थित है, क्योंकि इसकी वहीं उपलब्धि होती है। वह (राग-द्वेष आदि) अनेक अनर्थों तथा संकटों के बीच निवास करता है, अतः उसे गह्वरेष्ठ कहते हैं। इस प्रकार चूँकि वह बुद्धि रूपी गहन स्थान में अनुप्रविष्ट है, इसलिये यह दुःखों के बीच स्थित है और कठिनाई से दिखनेवाला है।

तं पुराणं पुरातनम् अध्यात्म-योग-अधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्म-योगः, तस्य अधिगमः प्राप्तिः तेन मत्वा देवम् आत्मानं धीरः हर्ष-शोकौ आत्मनः उत्कर्ष-अपकर्षयोः अभावात् जहाति ।।१२ (४१)

धीर व्यक्ति अध्यात्म-योग के द्वारा – मन को बाह्य विषयों से खींचकर आत्मा में एकाग्र करना अध्यात्मयोग है – उस पुरातन (चिरन्तन) आत्मा की उपलब्धि करके हर्ष तथा शोक को त्याग देता है, क्योंकि आत्मा में उन्नति या अवनति जैसा कुछ भी नहीं है ।।

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा
विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ।।१३ (४२) ।।

अन्वयार्थ – **मर्त्यः** मरणशील मनुष्य **एतत्** इस आत्मतत्त्व को **श्रुत्वा** आचार्य से सुनकर **सम्परिगृह्य** सम्यक् रूप से ग्रहण करके **धर्म्यम्** धर्मसम्मत वस्तु को **प्रवृह्य** देह आदि से अलग करके (इस) **अणुम्** सूक्ष्म (दुरधिगम्य) **एतम्** आत्मा को **आप्य** प्राप्त करके, **सः** वह व्यक्ति **मोदनीयम् हि** आनन्द के कारण-स्वरूप को ही **लब्ध्वा** प्राप्त करके **मोदते** आनन्द का उपभोग करता है। **नचिकेतसम्** नचिकेता के लिये **सद्म** (ब्रह्मरूप) भवन **विवृतम्** खुला हुआ है, ऐसा **मन्ये** मैं मानता हूँ।

भावार्थ – मरणशील मनुष्य इस आत्मतत्त्व को आचार्य से सुनकर सम्यक् रूप से ग्रहण करके धर्मसम्मत वस्तु को देह आदि से अलग करके (इस) सूक्ष्म (दुरधिगम्य) आत्मा को प्राप्त करके, वह व्यक्ति आनन्द के कारण-स्वरूप को ही प्राप्त करके आनन्द का उपभोग करता है। नचिकेता के लिये (ब्रह्मरूप) भवन खुला हुआ है, ऐसा मैं मानता हूँ।

भाष्यम् – किञ्च, एतत् आत्मतत्त्वम्, यत् अहं वक्ष्यामि, तत् श्रुत्वा आचार्य-सकाशात् सम्यक् आत्मभावेन परिगृह्य उपादाय मर्त्यः मरणधर्मा धर्मात् अनपेतं धर्म्यं प्रवृह्य उद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः, अणुं सूक्ष्मम् एतम् आत्मानम् आप्य प्राप्य, सः मर्त्यः विद्वान् मोदते मोदनीयं हि हर्षणीयम् आत्मानं लब्ध्वा। तत् एतत् एवंविधं ब्रह्म सद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रति अपावृत-द्वारं विवृतम् अभिमुखीभूतं मन्ये, मोक्षार्हं त्वा

मन्ये इति अभिप्रायः ।।१३।।

भाष्य-अनुवाद – मैं जिस आत्मतत्त्व को बताने जा रहा हूँ, उसे आचार्य के माध्यम से भलीभाँति प्राप्त करके, आत्मभाव से पूरी तौर से ग्रहण करके, इस धर्मसम्मत सूक्ष्म आत्मा को शरीर आदि (अनात्म पदार्थों) से पृथक् करके, इस सूक्ष्म आत्मा को प्राप्त करके, वह विद्वान् व्यक्ति आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करके आनन्द मनाता है। ऐसे उस ब्रह्म-रूपी भवन को, हे नचिकेता, मैं तुम्हारे लिये खुले द्वार वाला या तुम्हारे अभिमुख हुआ समझता हूँ। तात्पर्य यह कि मैं तुम्हें मोक्ष के योग्य समझता हूँ। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

महावाक्य पर विचार (क्रमशः)

यद्विभाति सदनेकधा भ्रमा-
न्नामरूपगुणविक्रियात्मना ।
हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६२।।

अन्वय – यद् सत् स्वयं हेमवत् सदा अविक्रियम्, भ्रमात् नाम-रूप-गुण-विक्रिय-आत्मना अनेकधा विभाति, तत् ब्रह्म त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जो स्वयं स्वर्ण के समान सर्व कालों में निर्विकार है, परन्तु भ्रमवश नाम, रूप, गुण तथा क्रिया की सत्ता से अनेक प्रकार से प्रकट होता है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो, ऐसा अपने अन्तःकरण में चिन्तन करो।

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं
प्रत्यगेकरसमात्म-लक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६३।।

अन्वय – यत् अनपरम् परात्-परम् प्रत्यक्-एकरसम् आत्म-लक्षणं सत्य-चित्-सुखम् अनन्तम् अव्ययम् ब्रह्म तत् त्वम् असि (इति) आत्मनि भावय।

अर्थ – जिससे भिन्न कुछ भी नहीं है, जो बुद्धि के भी परे है, जो सबकी एकरस अन्तरात्मा है, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, अनन्त और अव्यय के रूप में प्रकाशित हो रहा है, वह ब्रह्म तुम्हीं हो, ऐसा अपने अन्तःकरण में चिन्तन करो।

उक्तमर्थमिममात्मनि स्वयं
भावयेत्प्रथितयुक्तिभिर्धिया ।
संशयादिरहितं कराम्बुवत्
तेन तत्त्वनिगमो भविष्यति ।।२६४।।

अन्वय – उक्तं इमं अर्थं स्वयं आत्मनि प्रथित-युक्तिभिः धिया भावयेत् तेन कराम्बुवत् संशय-आदि-रहितं तत्त्व-निगमः भविष्यति।

अर्थ – पिछले (दस) श्लोकों में जो तत्त्व कहा गया, उसका श्रुति-सम्मत युक्तियों तथा बुद्धि के द्वारा से अपने मन में चिन्तन करो। इससे संशय आदि से रहित तत्त्वज्ञान, हाथ में लिये हुए जल के समान, अपने अधीन हो जायेगा।

सम्बोधमात्रं परिशुद्धतत्त्वं
विज्ञाय संघे नृपवच्च सैन्ये ।
तदाश्रयः स्वात्मनि सर्वदा स्थितो
विलापय ब्रह्मणि विश्वजातम् ।।२६५।।

अन्वय – नृपवत् च सैन्ये संघे सम्बोध-मात्रं परिशुद्ध-तत्त्वं विज्ञाय तद्-आश्रयः स्व-आत्मनि सर्वदा स्थितः विश्व-जातम् ब्रह्मणि विलापय।

अर्थ – पंचभूतों के संघात-रूप शरीर में, चैतन्य-स्वरूप विशुद्ध आत्मा को, सेना में स्थित राजा के समान जानकर, सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए, इस ज्ञान का आश्रय लेकर विश्व-ब्रह्माण्ड को ब्रह्म में विलीन कर दो।

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षणं
ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम् ।
तदात्मना योऽत्र वसेद्गुहायां
पुनर्न तस्याङ्गगुहाप्रवेशः ।।२६६।।

अन्वय – सद्-असद्-विलक्षणम् परम्-अद्वितीयम् सत्यम् ब्रह्म बुद्धौ गुहायाम् अस्ति। तत्-आत्मना यः अत्र गुहायाम् वसेत्, अंग, तस्य पुनः न गुहा-प्रवेशः।

अर्थ – स्थूल तथा सूक्ष्म से भिन्न, परम, अद्वितीय, सत्य-स्वरूप ब्रह्म बुद्धि-रूपी गुहा में स्थित है। जो उसके साथ एकात्म होकर उस गुहा में निवास करता है, हे वत्स, उसका दुबारा (मातृगर्भ-रूपी) गुहा में प्रवेश नहीं होता।

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनाऽनादिरेषा
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा याऽस्य संसारहेतुः ।
प्रत्यग्दृष्ट्याऽऽत्मनि निवसता सापनेया प्रयत्ना-
न्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत् ।।२६७।।

अन्वय – वस्तुनि ज्ञाते अपि, 'कर्ता-भोक्ता अपि अहम्' इति एषा दृढा बलवती अनादिः वासना, या अस्य संसारहेतुः, सा प्रत्यक्-दृष्ट्या आत्मनि निवसता, प्रयत्नात् अपनेया। इह यत् वासना-तानवम् तद् मुनयः मुक्तिम् प्राहुः।

अर्थ – आत्म-स्वरूप का (परोक्ष) ज्ञान हो जाने के बाद भी, 'मैं कर्ता और भोक्ता हूँ' – ऐसी जो दृढ़ तथा बलवती अनादि वासना रह जाती है, वही संसार-बन्धन का हेतु है। उसे अन्तर्मुखी दृष्टि की सहायता से, अपने आत्म-स्वरूप में स्थित रहकर प्रयत्नपूर्वक दूर कर देना चाहिये। इस वासना के क्षय को ही मुनिगण मुक्ति कहते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२०३. क्या जाने किस वेश में बाबा ...

सोमवती अमावस्या के अवसर पर बंकटलाल व अन्य भक्तों ने गजानन महाराज से नर्मदा-स्नान के लिए ओंकारेश्वर चलने का आग्रह किया। महाराज बोले, "मुझे तो अपने कुएँ के जल से ही नर्मदा-स्नान का पुण्य मिल जाता है। इसलिए मैं ओंकार-मान्धाता क्यों जाऊँ?" भक्तों द्वारा बार-बार आग्रह करने पर वे ओंकार-मान्धाता जाने को तैयार हुए, पर साथ ही वे बोले, "अगर वहाँ कोई विघ्न आएगा, तो मुझे दोष न देना।" भक्तों ने सोचा कि महाराज के रहते कोई विघ्न कैसे आ सकता है, अत: सबने स्वीकृति दे दी।

वे लोग ओंकार-मान्धाता पहुँचे। नर्मदाजी में स्नान आदि के बाद वे नाव में सवार होकर विहार करने लगे। तभी नाव एक चट्टान से जा टकराई, जिससे उसमें छेद होकर पानी नाव में प्रवेश करने लगा। इससे नाव को डाँवाडोल होते देखकर भक्तगण घबरा गये और इस विपत्ति से उबारने के लिये महाराज से प्रार्थना करने लगे। महाराज बोले, "यह मेरे बस की बात नहीं है। इस संकट से नर्मदा मैया ही उबार सकती हैं। आप सब उन्हीं की प्रार्थना करें।" भक्तों ने नर्मदा माता से रक्षा की गुहार लगाई। महाराज गं गणपतये नम: मंत्र का जप करने लगे, भक्तों ने भी जप करना शुरू किया।

इतने में एक केवट-स्त्री प्रकट हुई और उसने नाव को ऊपर उठाया। इससे नाव किनारे पर आ गई। नाव का छेद भी बन्द हो गया था। केवट-स्त्री ने झुककर महाराज को प्रणाम किया और वह सहसा अदृश्य हो गई। महाराज ने भक्तों को बताया, "जिस स्त्री ने तुम सबको मल्लाहिन के रूप में दर्शन दिये, वे साक्षात् नर्मदा देवी थीं।" नर्मदा देवी के दर्शन पाकर सबने अपना परम सौभाग्य माना।

२०४. सेवक वही जो आज्ञा माने

एक बार ईरान के बादशाह सुलतान महमूद के दरबार में एक व्यापारी आया। उसने एक चमचमाता मोती दिखाते हुए उसकी सही कीमत बताने को कहा। प्रधानमंत्री ने जब उसे हाथ में लिया, तो उसकी आँखें चौंधिया गईं। उसने कहा, "मेरी राय में इसकी कीमत सौ अशर्फियों से ज्यादा ही है। बादशाह ने कहा, "इसे फोड़ने की कोशिश करो। यदि यह जल्दी फूटेगा, तो इसकी कीमत कम होगी। देरी से फूटने पर साबित होगा कि यह कीमती है।" मंत्री बोला, "हुजूर, मैं आपका सेवक हूँ। मैं इसे फोड़ने का दु:साहस भला कैसे कर सकूँगा।" सुलतान ने खजांची से मोती फोड़ने को कहा। खंजाची ने मोती को हाथ में लेकर कहा, "हुजूर, मेरे ख्याल से तो खजाने में जितनी दौलत है, उतनी ही इसकी कीमत है।" – "नहीं, इसे फोड़कर कीमत बताओ।" बादशाह के कहने पर वह बोला, "तौबा, तौबा! हुजूर, मैं खजाने की हिफाजत करता हूँ। मुझसे फोड़ने का काम कैसे होगा?" सुलतान ने अन्य दरबारियों से भी मोती फोड़कर कीमत बताने को कहा, पर हर किसी ने कहा कि यह धृष्टता उससे नहीं होगी। तब बादशाह ने नगर में मुनादी पिटवा दी कि जो कोई उस मोती को फोड़कर उसकी सही कीमत बताएगा, उसे मुँहमाँगा इनाम दिया जाएगा।

मुनादी सुनकर अयाज नामक गुलाम दरबार में हाजिर हुआ और बादशाह से मोती को फोड़ने की इजाजत माँगी। इजाजत मिलने पर उसने हथौड़ा लेकर मोती को फोड़ना शुरू किया। थोड़ी ही देर में मोती चकनाचूर हो गया। तब वह बादशाह से बोला, "हुजूर, इसकी कीमत निश्चय ही मुझसे ज्यादा है।" वजीर ने कहा, "हुजूर, इसने बेशकीमती मोती को चूर-चूर करने का गुनाह किया है, इसलिए इसे सजा मिलनी चाहिए।" अन्य दरबारी भी उसकी सुर में सुर मिलाने लगे। अयाज ने कहा, "हुजूर माफ करें। मैं जी-हुजूरी नहीं करूँगा। मेरा फर्ज है, मालिक के आदेशों की तामील करना और वह मैंने कर दिया है। इससे अगर मुझसे गुस्ताखी हुई है, तो बन्दा सजा भुगतने को तैयार है।"

बादशाह ने दरबारियों की ओर देखकर कहा, "अयाज आप लोगों की तरह खुशामदी नहीं है। आप लोग खुशामदी होने के कारण मोती को तोड़ने की हिम्मत जुटा नहीं पा रहे थे। आप डर रहे थे कि मोती टूट जाने पर मैं नाराज होकर आपको सजा दूँगा। इसीलिये आप इसे कीमती बता रहे थे। अयाज एक गुलाम होकर भी आप सबसे होशियार है। गुलाम होने के कारण वह अपनी कीमत कुछ भी नहीं लगाता। इसीलिए उसने मोती को अपने से कीमती बताया। गुलाम केवल मालिक की सेवा करना और उसके आदेशों का ठीक ढंग से पालन करना ही अपना फर्ज समझता है।" इसके बाद बादशाह ने अयाज की ओर मुखातिब होकर कहा, "अयाज, मैं जान गया कि तुम मामूली इंसान नहीं हो। तुममें कोई भी काम करने की हैसियत है। मैं तुम्हें इनाम में एक जागीर देने की घोषणा करता हूँ। आज से तुम गुलाम नहीं, जागीरदार हो गये।"

विवेकानन्द-युवा-सम्मेलन

रामकृष्ण मिशन, कल्चर, गोलपार्क, कलकत्ता के युवा-सम्मेलन विभाग द्वारा अप्रैल २०१० से मार्च २०११ तक स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से पश्चिम बंगाल के ११ जिलों के विभिन्न ग्रामों में संस्थाओं, विद्यालयों तथा जिलों के स्तर पर २०७ युवा-सम्मेलनों का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में ३९,००० युवकों ने भाग लिया। सभी प्रतिभागियों को स्वामीजी की पुस्तक प्रदान की गयी। २१ नवम्बर, २०१० के केन्द्रीय युवा-सम्मेलन में १२० संस्थाओं के १२०० युवकों तथा ३५० परिदर्शकों ने भाग लिया। तीन जिला स्तरीय शिक्षा-सम्मेलनों में ७६५ शिक्षक-शिक्षिकाओं ने भाग लिया। १८ अप्रैल, २०११ को विभिन्न जिलों के १८८ संस्थाओं से आगत कार्यकर्ताओं का एक प्रतिनिधि-सम्मेलन भी आयोजित किया गया। २५ सितम्बर, २०१० को आयोजित केन्द्रीय प्रतियोगिता में १० जिलों से चयनित २०० प्रतियोगियों ने संगीत, भाषण, पाठावृत्ति और क्वीज (प्रश्नोत्तरी) आदि कार्यक्रमों में भाग लिया।

गोन्दिया – सत्संग मण्डल के कार्यक्रम

गोन्दिया (महाराष्ट्र) के रामकृष्ण सत्संग मंडल द्वारा ८ से १० जुलाई, २०११ तक अनेक कार्यक्रम आयोजित किये गये। ८ जुलाई को स्वामी विवेकानन्द के १५० वें जन्मवर्ष (सार्ध शताब्दी) के उपलक्ष्य में एक युवा-सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें ८ वीं से १२ वीं तक के और महाविद्यालय के ५००-६०० विद्यार्थियों ने भाग लिया। इस अवसर पर एक शिविर भी लगाया गया, जिसमें रामकृष्ण मठ, नागपुर के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मस्थानन्दजी, रामकृष्ण मिशन, चण्डीगढ़ के सचिव स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी, रामकृष्ण मठ, मुम्बई के अध्यक्ष स्वामी सर्वलोकानन्दजी, रामकृष्ण मठ, पुणे के अध्यक्ष स्वामी श्रीकान्तानन्दजी और रामकृष्ण मिशन, औरंगाबाद के सचिव स्वामी विष्णुपादानन्दजी ने मार्गदर्शन किया।

रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार-परिषद के संयोजक डॉ. बी. टी. आडवानी और स्थानीय वक्ता श्री आशीष कुमार डे ने भी छात्रों को सम्बोधित किया।

९ तथा १० जुलाई को रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार-परिषद की अर्धवार्षिकी सभा सम्पन्न हुई, जिसमें २६ केन्द्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दोनों दिन रामकृष्ण सत्संग मंडल, गोन्दिया के बाल कलाकारों द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये, जिसके अन्तर्गत स्वामी विवेकानन्द के जीवन की घटनाओं पर आधारित नाटक तथा भजन आयोजित हुए।

इसके अतिरिक्त गोन्दिया शहर की सार्वजनिक सभा में श्रीमाँ सारदा, भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन-सन्देशों तथा रामकृष्ण-भावधारा का महत्त्व नामक विषय पर उपरोक्त संन्यासियों ने अपने विचार रखे।

ग्रीष्मकालीन बाल-शिविर

रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्रों ने बच्चों के व्यक्तित्व-विकास हेतु ग्रीष्म-शिविरों का आयोजन किया – २२ अप्रैल से २४ मई तक हैदराबाद मठ में आयोजित शिविर में ११ से १५ वर्ष के आयुवर्ग के ७५० बच्चों ने भाग लिया। कानपुर आश्रम में २२ से २९ मई तक आयोजित शिविर में ९ से १६ वर्ष के आयुवर्ग के १२५ बच्चों ने भाग लिया। पोन्नमपेट आश्रम में १७ से २४ अप्रैल तक आयोजित शिविर में ९ से १६ वर्ष के आयुवर्ग के १२० बच्चों ने भाग लिया। पूना मठ ने २४ से २९ मई तक आयोजित शिविर में १२ से १५ वर्ष के आयुवर्ग के १४५ बच्चों ने भाग लिया। राजकोट मठ ने २ से २७ मई तक शिविर लगाया, जिसमें ७ से १३ के आयुवर्ग के ७६ बच्चों ने भाग लिया।

विविध केन्द्रों से समाचार

रामकृष्ण मिशन, चण्डीगढ़ के छात्रावास के छात्र कुणाल चावला ने अखिल भारतीय आई. आई. टी. प्रवेश-परीक्षा में छठवाँ स्थान प्राप्त किया।

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ के गणित विभाग के प्राध्यापक श्री किंशुक विश्वास को २०११ के युवा वैज्ञानिक के रूप में इंडियन नेशनल साइंस अकादमी मेडल से पुरस्कृत किया गया।

पुरी में श्रीजगन्नाथ की रथयात्रा के समय वहाँ के रामकृष्ण मिशन ने ३०,००० यात्रियों को पानी और नीबू का शरबत पिलाकर सेवा की और ७५ रोगियों की चिकित्सा की।

महाराष्ट्र के पण्ढरपुर में ९ से १२ जुलाई तक हुए वारकरी मेले में पूना के रामकृष्ण मठ ने निःशुल्क मेडिकल कैम्प लगाकर १५०० यात्रियों की विभिन्न प्रकार की चिकित्सा की।

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २०११ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

दर्पण दर्द नहीं करता है

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

है उदार अन्तस्थल उसका,
जो भी हो, सम्मुख आने पर,
सबको एक भाव से सादर
अपने अन्तः में भरता है ।
दर्पण दर्द नहीं करता है ।।

शुद्ध-बुद्ध-सत्-चित स्वरूप वह
टूक-टूक भी हो जाने पर,
अपना प्रतिबिम्बन का सद्गुण
फिर भी दूर नहीं करता है ।
दर्पण दर्द नहीं करता है ।।

ऊँच-नीच का भेद भुलाकर
सबकी जिज्ञासा का प्रतिफल,
जिसका जैसा रूप यथावत्
तत्क्षण ही सम्मुख धरता है ।
दर्पण दर्द नहीं करता है ।।

निर्भय औ निःशंक सर्वदा
गुण-अवगुण सबके दरसाता,
वह नितान्त निष्पक्ष, किसी से
किंचित् नहीं कभी डरता है ।
दर्पण दर्द नहीं करता है ।।

सबके सुख-दुख में सहभागी
होकर वह भी हँसता-रोता,
सबके लिए समान हृदय हो,
यह ही उसकी दर्पणता है ।
दर्पण दर्द नहीं करता है ।। ❑